पहली बार १५००
सन् उन्नीस सौ पैंतीस
मूल्य सवा रुपया

पूज्य मालवीयजी की अपील

"'सस्ता साहित्य मण्डल' ने हिन्दी में उच्चकोटि की सस्ती पुस्तकें निकालकर हिन्दी की बड़ी सेवा की है। सर्वसाधारण को इस संस्था की पुस्तकें लेकर इसकी सहायता करनी चाहिए।"

मदनमोहन मालवीय

मुद्रक
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
दिल्ली

निवेदन

'भारत के स्त्रीरत्न' के दो भाग सस्ता साहित्य-मण्डल पहले प्रकाशित कर चुका है—और, यह खुशी की वात है कि, स्त्री-साहित्य के प्रेमी पाठको ने उन्हें खूव अपनाया है। पहले भाग के चार और दूसरे के दो सस्करण अभीतक हो चुके है, और फिर से छपाने की तैयारिया हो रही है। इसीसे प्रोत्साहित होकर, अव हम 'स्त्री-रत्न' का तीसरा भाग प्रस्तुत कर रहे है।

इस भाग को प्रकाशित तो हम वहुत पहले करना चाहते थे, परन्तु इस वीच कुछ ऐसी झझटो में हमें पडना पडा कि इससे पहले ऐसा नही कर सके। लेकिन इस विलम्ब की पूर्ति इस भाग को पहले की अपेक्षा अधिक अच्छा वनाने की कोशिश की गई है। जैन और बौद्ध काल के स्त्री-रत्नो को, काल-विभाग के अनुसार, विभाजित करके, चरित्र-चित्रण में भी कुछ परिमार्जन किया गया है। आधार तो अव भी वही श्री शिवराम दलपतराम पण्डित का गुजराती "भारतना स्त्री रत्नो" ग्रन्थ है, परन्तु इस वार उसका हूवहू अनुवाद कम हुआ है। काफी स्वतत्रता अनुवाद में ली गई है, यही नही वल्कि कई चरित्रो को तो विल्कुल नये सिरे से लिखा गया है। ऐसा करने से चरित्रो में सुगमता और परिमार्जितता आगई है। और इसमें कुछ अन्य पुस्तको की मदद भी ली गई है। सती अन्जना में श्रीयुक्त सुदर्शन के 'अजना सुन्दरी' नाटक, यशोधरा में कविवर मैथिलीशरण गुप्त के 'यशोधरा' काव्य और सुजाता व किसागोतमी में प्रो० कौशाम्बी के वुद्ध लीलासार-सग्रह तथा डा० कुमारस्वामी के 'गास्पेल आव् वुद्धिज्म' से खास तौर

पर मदद ली गई है, जिसके लिए हम उनके लेखकों और प्रकाशको के कृतज्ञ हैं।

आशा है, पहले और दूसरे भागो की तरह, इस (तीसरे) भाग को भी बहुलता के साथ अपनाया जायगा और इसमें के चरित्रो से स्फूर्ति प्राप्त करके स्त्रिया अपने को ऊँचा उठायेंगी।

अगर हमारी आशा पूर्ण हुई तो, उससे उत्साहित होकर, जैन और बौद्ध काल से आगे के स्त्री-रत्नो के चरित्र भी, अन्य भागो के रूप में, हम यथाशीघ्र प्रस्तुत करनें का प्रयत्न करेंगे।

श्रावण,
रक्षाबन्धन, १९९२

प्रकाशक

विषय-सूची

जैन काल

बौद्ध काल

भारत के स्त्री-रत्न

[तीसरा भाग]

जैन काल

जैन-धर्म का संक्षिप्त परिचय

जैन-धर्म के बारे में बहुत से लोगो की ऐसी धारणा पाई जाती है कि यह हमारे धर्म से भिन्न कोई नया ही धर्म है। परन्तु यह धारणा बिलकुल मिथ्या है। हिन्दू, जैन और बौद्ध ये तीनो धर्म एक-दूसरे से बिलकुल मिलते हुए है। सच पूछो तो, "वैदिक, जैन और बौद्ध एक हिन्दू-धर्म की ही तीन शाखाये है। और इन तीनो के सम्मिलन में ही हिन्दुस्तान के प्राचीन धर्म का पूर्ण स्वरूप बनता है।"

'जिन' या 'तीर्थङ्कर' और जैन

प्राचीन भारतवर्ष में जिन अद्‌भुत महात्माओ ने अपने मन, वचन और काया पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करली थी, सन्मान की दृष्टि से उन्हे 'जिन' (जि अर्थात जीतना, विजय करना, **जिन** अर्थात जीतनेवाला, विजयी) कहते है, और उनके धर्म का अनुसरण करनेवालो को 'जैन' कहा जाता है। क्योकि इन महात्माओ ने असख्य प्राणियो को इस ससार-सागर के पार लगा दिया है, इसलिए 'तीर्थंकर' नाम से भी ये प्रख्यात है।

चौबीस तीर्थङ्कर

जैन धर्म में ऐसे चौबीस तीर्थङ्कर हो गये है। इनमें सबसे पहले ऋषभदेव हुए है और सबसे अन्तिम महावीर स्वामी। ऋषभदेव को तो ब्राह्मणोंने भी अपने चौबोस अवतारो में से एक माना है और उनके अद्‌भुत वैराग्य एव परमहस-वृत्ति की खूब प्रशसा की है। अन्तिम तीर्थकर महावीर स्वामी ईस्वीपूर्व ५३९ या ५९९ वें वर्ष में कुण्ड ग्राम में पैदा हुए थे।

चतुरमुखी 'सघ'

जैन-धर्म का महामण्डल 'सघ' कहलाता है। सघ के चार विभाग है—(१) साधु (मुनि, यति या श्रमण), (२) साध्वी (आर्यं अथवा आरजा), (३) श्रावक, (४) श्राविका। इनमे पहले दो वर्ग ससार-त्याग करके वैराग्य और तपस्या के कठोर नियमो का पालन करते है और पिछले दो ससार में रहकर मुनियो का उपदेश सुनते है।

'श्वेताम्बर', 'दिगम्बर' और 'स्थानकवासी'

जैन-धर्म के मुख्य पन्थ दो है—श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेत वस्त्र धारण करनेवाले श्वेताम्बर होते है, और जो दिशाओ को ही अपना वस्त्र मानते हैं, आर्थात् वस्त्र जैसी कोई चीज शरीर पर नही रखते, उन्हे दिगम्बर कहते है। तदुपरान्त जो श्वेताम्बर साधुओ को मानते है वे श्वेताम्बरी कहलाते है, और दिगम्बर साधुओ को माननेवाले दिगम्बरी। इसके अतिरिक्त एक शाखा और भी है। यह तीसरी शाखा 'स्थानकवासी' नाम से पुकारी जाती है और ये लोग मूर्त्ति को नही मानते।

'रत्न'

दर्शन, ज्ञान और चरित्र इन तीनो को जैन-धर्म में 'रत्न' कहा गया है।

व्रत

जैनियो में पाच व्रत मुख्य है--(१) अहिसा, (२) सुनृत (सत्य), (३) अस्तेय (चोरी न करना), (४) ब्रह्मचर्य, (५) अपरिग्रह (वस्तुओ को जोड कर न रखना, न रखाना और न रखने का अनुमोदन करना। गृहस्थाश्रम का ब्रह्मचर्य यह है कि अपनी ही स्त्री से सम्बन्ध रक्खा जाय। गृहस्थो के व्रत को 'अणुव्रत' और यतियो के व्रत को 'महाव्रत' कहते है।

समिति

पाच समिति या सदाचार माने गये हैं--(१) **इर्या समिति** (रात में जीव-जन्तु पैरोतले आकर कुचल जाते हैं, इसलिए रात को न चलना। घने रास्तो में जहा आदमी आते-जाते हो और जीव-जन्तु थोडे हो वहा दिन में भी ऐसी सावधानी से चलना कि जीव-जन्तु पैरो-तले न कुचले जायें) ।

(२) **भाषा-समिति** (नम्र, हितकारक, मधुर और सत्य एव न्याययुक्त बात कहना। असत्य, अभिमान, कपट आदि दोषो से युक्त वात न कहना) ।

(३) **एषणा-समिति** (यति इस प्रकार भिक्षा मागे, जो विलकुल निर्दोष हो) ।

(४) **आदान निक्षेपणा-समिति** (वस्त्रादि वस्तुयें इस प्रकार रखनी, जिससे किसी प्रकार का दोष न लगे) ।

(५) **परिष्ठापना-समिति** (कफ या थूक-खकार और मल-मूत्रादि शरीर के मैल को ऐसी जगह और इस प्रकार डालना जिसमें किसी प्रकार का पाप न हो ।

त्रण गुप्ति

जैनधर्म का कथन है कि मन, वाणी और काया को शुद्ध रखते हुए इस प्रकार साधना चाहिए कि उनके द्वारा किसी भी प्रकार का दोष न होने पाये। इसे 'त्रण गुप्ति' कहते हैं ।

जैनशास्त्र का उपदेश

जैनशास्त्रो का उपदेश है कि निम्न चार प्रकार के भावो का मनुष्य को रात-दिन पालन करना चाहिए ---

(१) **मैत्री** (प्राणिमात्र से मित्र-भाव रखना, सबके अपराध क्षमा करना और किसी से भी वैर न रखना) ।

(२) **प्रमोद** (अपने से जो योग्य या बड़ा हो उसके प्रति विनयपूर्ण व्यवहार करना, अर्थात् स्तुति-वन्दना एव सेवा द्वारा उसे प्रसन्न रखना)।

(३) **कारुण्य** (करुणा, दया, दीन-दुखी प्राणियो को उपदेश आदि जिस बात से सुख हो वह करना)

(४) **माध्यस्थ्यत्व** (उपेक्षा करनी, अर्थात् जो विलकुल जड हो और उपदेश ग्रहण न कर सकते हो उनपर भी क्रोध न करना)।

वैराग्य और गार्हस्थ्य

जैन-धर्म में वैराग्य को वहुत ऊँचा स्थान दिया गया है, और यतियो के पालनार्थ जो नियम वनाये गये है वे वहुत कठोर है। धर्म के सम्वन्ध में भी जैन ग्रन्थो मे वहुत-कुछ लिखा गया है। गृहस्थो के लिए वारह धर्म वताये गये है।

यात्रा और व्रत

यात्रा और व्रत पर भी जैन-धर्म मे काफी जोर दिया गया है। शत्रुञ्जय-पर्वत, चम्पापुरी, पावापुरी, गिरनार और सुमेत शिखर ये पाच तीर्थस्थान वहुत पवित्र माने जाते है। क्योकि, ये तीर्थङ्करो की निर्वाण-भूमि है।

पोसह अर्थात् 'प्रोपध व्रत' महीने मे पाच वार शुक्लपक्ष की पचमी और दो चौदश करने का विधान है। इन व्रतो में गृहस्थ को आहार, शरीर की सजावट, स्त्री-सग और व्यापार इन चार वातो का त्याग करना पडता है।

पर्युसण या पजूसन जैनियो का सवसे वडा व्रत है। इसमें उपवास और शास्त्र-श्रवण किया जाता है।

जैनशास्त्र और ब्राह्मण-शास्त्र की समानता

ऊपर जैनधर्म का जो सक्षिप्त परिचय दिया गया है उससे मालूम पडेगा कि जैनशास्त्र ब्राह्मणशास्त्र से वहुत-कुछ मिलते हुए ही है।

अहिंसा, तपस्या और वैराग्य पर इस धर्म में बहुत जोर दिया गया है। ससार में रहते हुए भी सयम और इन्द्रिय-निग्रह करके मानव-आत्माओ (मनुष्यो) को उच्चता की ओर अग्रसर होना चाहिए, यही उनका उद्देश प्रतीत होता है।

जगत् अनादि है

जैनशास्त्र जगत् को अनादि मानते है और कहते हैं कि कर्म के महानियम मे ही सारे जगत् का सचालन होता है। अपने किये कर्मो को भोगना ही पडता है, जैसा किया जायगा वैसा ही उसका फल भोगना होगा, इस सिद्धान्त को उनमे वहुत जोरो के साथ विस्तार मे समझाया गया है।

जगत् का निर्माता

इसीलिए वे यह नही मानते कि एक ईश्वर इस जगत का निर्माता है, बल्कि ऋषभदेव आदि रागादि दोष से रहित और लोकोद्धारक जो तीर्थङ्कर हो गये है उन सबको भगवान के रूप में वे पूजा करते हैं।

१

महावीर-माता

सती अञ्जना

बहुत पहले की बात है। महेन्द्रपुर नामक नगर मे महाराज महेन्द्रराय राज्य करते थे। हृदयसुन्दरी उनकी रानी का नाम था। उनके पुत्र तो हुए, पर कन्या कोई न थी। बड़ी मुश्किलों मे, अनेक पुत्रों के बाद, ईश्वर-कृपा से उनकी यह मनोकामना पूर्ण हुई। उनके यहाँ एक कन्या का जन्म हुआ।

राजसी सुख-वैभव और लाड-प्यार मे पली हुई इस कन्या का नाम अंजनासुन्दरी रक्खा गया और उसके लिए ऊँचे दर्जे की शिक्षा-व्यवस्था की गई। शारीरिक सौन्दर्य तो उसका आँखों को चौंधियाता ही था, उच्च शिक्षा के प्रताप से सदाचार का तेज भी 'सोने मे सुगंध' की तरह अञ्जना मे खिल उठा।

क्रमशः अञ्जना ने यौवन की देहली पर पाँव धरा और माता-पिता को उसके उपयुक्त वर की फिक्र हुई। कन्या के अनुरूप ही वर हो, यही उनकी इच्छा थी। आखिर सोच-समझकर सबकी सलाह से आदित्यपुर के महाराज प्रह्लाद विद्याधर के पुत्र राजकुमार पवनजय के साथ अञ्जना के विवाह का निश्चय हुआ और विवाह हो गया

विवाह के बाद यौवन से उछलते हृदय और पति-मिलन एवं पति-क्रीडा की गुदगुदाती हुई हरी-भरी उमंगों को लेकर अञ्जना पति-गृह (ससुराल) मे आई। लेकिन विधाता ने जितना अपूर्व सौन्दर्य और शालीनता उसे दी थी, मानों उतना ही अत्यधिक कष्ट और वेदना भी उसके भाग्य मे लिख दी थी।

किसी ग़लतफ़हमी का शिकार होकर पवनजय उसकी उपेक्षा करने पर तुल गया। उसने अञ्जना का एकदम तिरस्कार किया। फलतः चिन्ता और क्षोभ मे क्षीणकाय और मन-मलीन होती हुई अञ्जना अपने दिन बिताने लगी। इतने पर भी उसने अपने धीरज और शालीनता को न छोड़ा, अपने पति के प्रति रोप या दुर्भावना न रखते हुए, आते-जाते समय महल के झरोखों से ही उसे निहार कर वह अपने मन को सन्तोष देने लगी।

अञ्जना के माता-पिता को जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने अपनी पुत्री को पीहर बुलाया। परन्तु, अञ्जना ने सोचा—कुलवधू को तो सुख-दु:ख कुछ भी क्यों न हो, ससुराल मे अपने पति की छत्र-छाया मे ही जीवन-यापन करना चाहिए। यह सोचकर, अञ्जना ने वहाँ जाने से इन्कार कर दिया।

बारह बरस ऐसी ही विरह-वेदना मे बीत गये। लेकिन न तो पवनजय का मन द्रवित हुआ, न अञ्जना ने ही विरह-वेदना से ऊबकर अपनी पति-निष्ठा को कम किया।

इसके बाद रावण के साथ वरुण का युद्ध हुआ। रावण का दूत महाराज प्रह्लाद विद्याधर के पास सहायता माँगने के लिए आया।

अपनी वीरता प्रदर्शित करने का सुअवसर देख, कुमार पवनजय युद्ध में जाने को कटिवद्ध हुआ।

युद्ध के लिए जाते समय माता-पिता के चरणस्पर्श करके वह शस्त्रागार मे गया। अञ्जना से मिलने तो वह क्यों जाने लगा था, अतः स्वयं अंजना ही उसके दर्शनों को वहाँ आ खडी हुई। परन्तु कठोर-हृदय पवनजय ने यहाँ भी उसका तिरस्कार ही किया। उससे वात करना तो दूर, उसने एक नज़र उसकी ओर देखा तक नहीं, और रास्ते से उसे एक ओर ढकेलते हुए, वह आगे बढ गया।

अञ्जना के स्त्री-हृदय को इससे वड़ी चोट लगी। युद्ध मे जाते समय मिलना या एक नजर देखना तो दूर, उलटे सास-ससुर सव के सामने ऐसा तिरस्कार! उसका मन लज्जा और क्षोभ से विह्वल हो उठा। आखिर प्रभु को ही एक-मात्र आधार मानकर उसने निश्चय किया—सदाचारपूर्वक अपना जीवन-यापन करूँगी और सयम का व्रत लेकर भगवान् का नाम जपूँगी।

उधर पवनजय अपने मंत्री प्रहसित के साथ सेना लेकर रावण की मदद को चल दिया। मार्ग मे एक सरोवर के किनारे एक दिन उन्होंने अपना मुकाम किया। रात को किसी पक्षी की हृदयवेधक आवाज सुनकर राजकुमार चौंक पडा। उसने मंत्री से पूछा—"यह किसका स्वर है प्रहसित ?"

"यह प्रदीप नदी के समीप है," प्रहसित ने कहा, "इसलिए उसके दोनों तीरों पर चकवा-चकवी वोल रहे है।"

राजकुमार ने कहा—"लेकिन स्वर से तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे रो-रोकर एक-दूसरे को बुला रहे हैं।"

"यही बात तो है राजकुमार।" प्रहसित ने अनुकूल अवसर देखकर कहा, "प्रकृति ने कुछ ऐसा नियम बाँध दिया है कि चकवा-चकवी दिन भर तो एकसाथ रहते हैं, परन्तु रात्रि को उनका मिलाप नहीं हो सकता। नदी के एक तीर पर चकवी और दूसरे पर चकवा होता है। इधर से चकवी बोलती है, उधर से चकवा उत्तर देता है। दोनों उड़कर मिलना चाहते है, परन्तु जब चकवा इधर आता है तो चकवी उधर पहुँच जाती है। इसी प्रकार रोते-रोते सारी रात कट जाती है।"

"और यह रुदन केवल रात भर के वियोग के कारण है?" राजकुमार ने आश्चर्य के साथ पूछा।

प्रहसित ने कहा—"हाँ, केवल रात्रि के वियोग के कारण। यह प्रकृति का नियम है और इस संसार भर की शक्तियाँ एकत्र होकर भी तोड़ना चाहे तो भी सफलता नहीं हो सकती।"

अब तो राजकुमार चिन्ता में पड़ गया। घटना तो यह बिलकुल जरा-सी और साधारण थी, परन्तु इसने सहसा अपने जीवन की उसे याद दिलादी। मन-ही-मन वह कहने लगा—"ओ निर्दय पवन! प्रकृति-माता के इन बेसमझ पक्षियों से शिक्षा ले और उस अबला का ध्यान कर, जो तेरे वियोग में दिन-रात रो-रोकर अपना यौवन बिता रही है। ये पक्षी एक रात्रि के वियोग में इतने व्याकुल हो जाते हैं, तो अञ्जना की भला क्या दशा होगी, जो वर्षों से विरह-दावानल में

जल रही है ?" एक-एक कर अपने अतीत जीवन की सारी घटनायें उसके स्मृति-पटल पर आने लगीं और उसे महसूस होने लगा कि अपनी पति-प्राणा पत्नी के प्रति मैंने बहुत उपेक्षा, कठोरता और हृदय-हीनता का व्यवहार किया है। लज्जा और पश्चात्ताप से वह सराबोर हो गया और आगे जाना उसके लिए मुश्किल बन गया। आखिर प्रहसित की सलाह से युद्ध मे जाने से पहले, जैसे भी हो, एक बार अञ्जना से मिल आने का उसने निश्चय किया। परन्तु ससैन्य वापस जाय तो लोग हँसेंगे और कहीं यह खयाल न करने लगे कि युद्ध के मारे रास्ते से ही लौट आया, यह सोचकर गुप्त रूप से ही जाने का निश्चय हुआ।

छद्मवेश मे जाकर जब राजकुमार ने अन्तःपुर के द्वार खटखटाये, तो अञ्जना की सखी वसन्तमाला ने कहा—"कुमार तो युद्ध मे गये हुए हैं, फिर रात को महल के द्वार खटखटानेवाला कौन लम्पट है ? सवेरे ही महाराज से कहकर खबर लिवाऊँगी।" कुमार ने अपना परिचय दिया तब किवाड खुले।

अञ्जना उस समय पूजा में निमग्न थी। धर्म-कर्म से निवृत्त होकर वह आई तो पवनजय ने उससे क्षमा मांगते हुए कहा—"तू सचमुच सती है। मैंने तुझे कडवी, मिथ्या और कठोर बातें कहकर बहुत चोट पहुंचाई है। निरादर भी तेरा बहुत किया है। इस सब के लिए अब मुझे बहुत पश्चात्ताप हो रहा है। अतः मैं तुझसे क्षमा चाहता हूं। देवी ! मुझे माफ कर।"

यह कहता हुआ वह हाथ जोड़कर उसके आगे झुक ही रहा था, कि अञ्जना ने उसे रोका और मधुर शब्दों मे आश्वासन देते हुए

उसका स्वागत-सत्कार किया। कुमार इस प्रकार गुपचुप वहाँ रहा और कामविह्वल पत्नी को सन्तुष्ट कर प्रेम-पूर्वक उससे विदा होकर युद्ध को गया।

जब वह जाने लगा तो अञ्जना ने कहा—"आप चुपचाप यहाँ आकर रहे हैं, इसके फलस्वरूप कहीं मुझे गर्भ रह गया, तो मैं क्या करूँगी?" तब कुमार ने अपनी अंगूठी निकाल कर उसे दी और कहा—"तू जरा भी भय न कर। शत्रु को जीत कर मैं जल्दी ही लौटूँगा। जबतक मैं न आऊँ, मेरी निशानी के तौर पर तू इस अँगूठी को अपने पास रखना।"

रणक्षेत्र के लिए, वीरागना को शोभा देनेवाले शब्दों मे ही उसने पति को विदाई दी। उसने कहा—"प्यारे! रणक्षेत्र मे अपने शौर्य और पराक्रम से सबको चकित करना। वरुण के सौ पुत्र लड़ने को आयेंगे, पर पीठ न दिखाना। यह सदा याद रखना कि वीर-पुरुष पराजय से मृत्यु को अधिक पसन्द करते है। वर्षों के विरह के बाद मुझे प्रेम-रस मिला है और संयोग की इस रात को तुरन्त ही विदा का प्रसंग भी आया है, इससे मेरा हृदय फटा जाता है, परन्तु कर्तव्य-पथ मे जाने से रोकना मैं अधर्म समझती हूँ। अतः जाओ और अपने काम मे सफलता प्राप्त करो। मैं पीछे से धर्म-कर्म और आपकी मंगल-कामना मे अपना समय बिताऊँगी। संसार को अपनी वीरता दिखलाकर, यशस्वी होके, जब आप उज्ज्वल कीर्ति के साथ वापस आयेंगे, तो मेरे सारे दुःख का बदला मिल जायगा। जाओ प्यारे। प्रसन्नता के साथ जाओ, और विजय प्राप्त करो।"

उधर पवनजय तो युद्ध को गया, इधर एक रात के समागम में ही अञ्जनासुन्दरी को गर्भ रह गया। धीरे-धीरे जब गर्भ के चिन्ह दृष्टि-गोचर होने लगे तो सास को आश्चर्य हुआ, कि पुत्र तो युद्ध करने गया है तब बहू को गर्भ कैसे रहा? अञ्जना के प्रति उसे अविश्वास उत्पन्न हुआ और उसके चरित्र पर उसे निश्चित रूप से सन्देह हो गया। अञ्जना ने सकुचाते हुए उसे सब बात बताई, पर सास को विश्वास न हुआ, और वह अञ्जना का तिरस्कार कर उसे बुरा-भला कहने लगी। यही नहीं, अपने पति से भी उसने अञ्जना की दुश्चरित्रता की बात कही। तब उन्होंने अञ्जना को उसके पीहर भेज दिया और एक पत्र-द्वारा यह भी जाहिर कर दिया कि दुश्चरित्रता के कारण हम अञ्जना को अपने घर से निकाल रहे हैं।

दुश्चरित्रता का कलंक जिस स्त्री को लग जाय, भला उसे भारतवर्ष का कौन पिता अपने घर रक्खेगा? राजा महेन्द्र ने भी उसे अपने यहां ठौर न दी, प्रत्युत् तिरस्कार के साथ अलग ही रक्खा। अलबत्ता रानी हृदयसुन्दरी के मातृ-हृदय से न रहा गया, इसलिए उसने उसे बुलाकर सान्त्वना दी और सही हक़ीक़त बताने के लिए कहा। सब-कुछ सुनकर उसे अञ्जना की निर्दोषिता का विश्वास तो हो गया, परन्तु लोकलाज और पति के क्रोध के आगे उसे भी सिर झुकाना पड़ा, और उसने भी उसे जंगल में ही चली जाने के लिए कहा। अलबत्ता दासी और सखी वसन्तमाला ने इस संकट-काल में भी उसका साथ न छोड़ा और अञ्जना के साथ-साथ वह भी जंगल गई।

इस समय के अञ्जना के दुःख का वर्णन नहीं किया जा सकता। वसन्तमाला को अञ्जना के प्रति उसके माता-पितादि का यह व्यवहार बहुत असह्य और अपमानजनक लगा। उसे उनपर बहुत रोष आया और इसके लिए उसने उनका तिरस्कार भी किया। परन्तु निर्मल-हृदय अञ्जना के हृदय में किसीके लिए रोष न था। उसने इसके लिए किसी को दोष न दिया, और इसको अपने किन्हीं कर्मों के दोष का प्रतिफल मानकर सन्तोष के साथ वह जगल चली गई।

जंगल मे अञ्जना को क्या-क्या कष्ट नहीं हुए, परन्तु फिर भी उसने अपने मन को विचलित नहीं होने दिया, और दारुण-से-दारुण कष्ट मे भी अपनी प्रतिष्ठा को ढीला नहीं पड़ने दिया। आखिर एक साधु से उसका साक्षात्कार हुआ। उन्हे अञ्जना पर बहुत दया और सहानुभूति उत्पन्न हुई और अञ्जना के पूर्वजन्म का वृत्तान्त बताकर उन्होंने बताया कि उसके किस दोष के फल-स्वरूप उसपर यह कलंक लगा है। इससे अञ्जना की धर्म-प्रवृत्ति को और प्रोत्साहन मिला और धर्मानुष्ठान मे वह और भी अधिक उत्साह से प्रवृत्त हो गई।

जगल की एक कन्दरा मे ही अंजना ने पुत्र प्रसव किया। वह बाल्यावस्था से ही बडा तेजस्वी और बलवान था। कहते है कि उसके जन्मते ही ऐक गन्धर्व उसे ले गया था, इसीलिए हनुमान उसका नाम रक्खा गया। यही वह हनुमान जी है जो अपने बल, पराक्रम एव स्वामी-भक्ति के लिए हिन्दूमात्र के आराध्यदेव महावीर बने हुए हैं।

उधर पवनजय जब युद्ध मे विजय प्राप्त कर लौटा तो उसे यह सब हाल मालूम हुआ। अंजना पर व्यर्थ ही दुश्चरित्रता का कलंक

लगाकर उसे घर से निकाल दिया गया है, यह जानकर उसे बड़ी मर्मवेदना हुई, और अंजना के नाम को रटता हुआ वह उसकी खोज मे चल दिया। शहर-शहर और जंगल-जंगल वह अंजना को ढूँढता हुआ भटकता रहा, परन्तु अंजना का कहीं पता न लगा। आखिर निराश होकर उसने आत्म-हत्या करने का निश्चय किया और जिस तरह पतिप्राण स्त्रियाँ पति के पीछे जलती चिता मे कूदकर प्राणार्पण किया करती थीं उसी प्रकार वह भी चिता जलाकर उसमे कूदने के लिए कटिबद्ध हुआ परन्तु ऐन वक्त पर पितादि ने पहुँचकर रोक लिया और समझाया कि इस प्रकार आत्म-घात करना तो महा पाप और कायरता का चिन्ह है।

इसी समय अंजना का आश्रयदाता प्रतिसूर्य विद्याधर भी उसे लेकर वहाँ आ पहुचा और यह बतलाते हुए कि अंजना ने कठिन प्रसंगों पर भी किस प्रकार पवित्रता से धर्माचरण मे जीवनयापन किया है, उसने हनुमान के जन्म और बाल-पराक्रम का भी सब वृत्तान्त सुनाया, जिसे सुनकर सब लोग हर्ष से गद्गद् हो गये।

पवनजय के हर्ष का तो कोई ठिकाना ही न रहा, और, अंजना के दुःख का खात्मा हो गया।

प्रतिसूर्य विद्याधर के आग्रह पर अंजना, और हनुमान सहित पवनजय कुछ समय उन्हींके पास रहा और फिर अपनी राजधानी को चला आया।

पुत्र हनुमान को माता-पिता ने अच्छी शिक्षा दी और उसके वयः प्राप्त हो जाने पर उसे राज्य सौंपकर पवनजय ने दीक्षा ले ली।

पश्चात् अंजनासुन्दरी ने भी एक विद्वान मुनि से दीक्षा ली और अपने कर्म का क्षय हो जाने से मोक्ष को प्राप्त हुई।[१]

---

[१] रामायण के महावीर (हनुमान) और जैन तीर्थंकर महावीर एक ही थे, यह नहीं कहा जा सकता। महावीर-माता का जो चरित्र यहां दिया गया है, वह बहुत-कुछ जैनियों की दृष्टि से, उन्हीं के साहित्यानुसार, दिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि माता-पितादि के नाम सब मिल जाते हैं, फिर भी इस चरित्र को पढ़ते समय हम किसी गलतफहमी में न पड़ें, यह हमें ध्यान रखना चाहिए। —संपादक

२

साहसी सती

धारिणी (पद्मावती)

धारिणी चम्पापुरी के राजा दधिवाहन की पत्नी और चेटक राजा की पुत्री थी। पद्मावती इसका दूसरा नाम था। चित्रविद्या, शिल्पकार्य और धर्मशास्त्र का इसे अच्छा ज्ञान था। साहसी भी यह खूब थी। दुःख से कभी हिम्मत न हारती। सदा स्वस्थ और प्रसन्न रहती। यह गम्भीर, सावधान और चतुर थी। व्यवहार मे कुशल और संकट मे यथासाध्य काम आनेवाली थी। शौर्य इसमे पुरुषों जैसा ही था। पिता चेटकराजा ने इसे विविध प्रकार की शिक्षा दी थी। चरित्र भी इसका बहुत शुद्ध था।

सती धारिणी का अपने पति पर शुद्ध और पवित्र प्रेम था, और पति दधिवाहन भी उसपर ऐसाही प्रेम रखता था। इस प्रकार इस दम्पती का गृहस्थ-जीवन बड़े सुख से व्यतीत हो रहा था।

सती धारिणी के वसुमती नाम की एक कन्या हुई, अपनी उस पुत्री को भी शिक्षाप्राप्त माता ने अच्छी शिक्षा देकर ऊंचे संस्कारों वाली बना दिया था।

परन्तु, 'सब दिन होत न एक समान।' सती धारिणी का सुख भी बहुत दिनों तक नहीं रहा। कौशाम्बी के राजा शतानीक के साथ

उसके पति राजा दधिवाहन की शत्रुता हो गई। राजा शतानीक ने दधिवाहन पर चढ़ाई कर दी। दोनों राजाओं में भयानक युद्ध हुआ। आखिर राजा दधिवाहन पराजित हुआ और कहीं भाग गया। राजा शतानीक ने शहर को लूटा, और उसके एक योद्धा ने राजमहल मे जाकर रानी धारिणी तथा राजकुमारी वसुमती को अपने कब्जे में किया।

रानी धारिणी पर जब उस योद्धा की नजर पड़ी, तो उसके अनुपम सौन्दर्य को देखकर वह मोहित हो गया, और उसे आश्रय देने का बहाना करके एक जंगल मे लेगया। वहाँ जाकर उसने सती धारिणी से कहा:—

"सुन्दरी। इस समय यहाँ पर तेरा कोई भी नहीं है। यदि तू किसी भी प्रकार आनाकानी करेगी तो बड़ा दुःख उठाना पड़ेगा। इसलिए सीधी तरह तू मेरी पत्नी बनजा।"

योद्धा की ऐसी बात सुनकर रानी धारिणी कांप उठी, परन्तु उसमें साहस खूब था, इसलिए क्रुद्ध होकर बोली:—

"दुष्ट दुराचारी! ऐसे दुर्वचन कहनेवाली अपनी जीभ को काट डाल। क्या तू नहीं जानता, कि मैं कौन हूं? मैं असली क्षत्राणी हूं, मेरे दोनों कुल (पीहर और ससुराल) शुद्ध और निश्कलंक हैं। सदा मैं प्रभु की भक्ति करती हूं। दुष्ट। क्या तुझे हिन्दू-स्त्रियों के पतिव्रत-धर्म की महिमा का भी ज्ञान नहीं है? नहीं तो भला तू ऐसे दुर्वचन मुह से निकालता।"

यही नहीं, इसके बाद और भी नानाविध धर्म की बातें कहकर सती धारिणी ने योद्धा को उपदेश किया। परन्तु वह तो इतना

कामान्ध हो रहा था कि सती के सदुपदेश का उस पत्थर-दिल पर जरा भी असर नहीं हुआ, और वह धारिणी के साथ वालात्कार करने पर आमादा हो गया। तब, अपनी सतीत्व-रक्षा का और कोई उपाय न देख, सती धारिणी ने दाँतों से अपनी जीभ काट कर प्राण-त्यग कर दिया।

इस चरित्र से यह स्पष्ट है कि स्त्री चाहे तो कठिन से कठिन प्रसग पर भी अपनी सतीत्व-रक्षा कर सकती है, फिर इसके लिए उसे अपने प्राण ही क्यों न दे देने पड़ें। सतीत्व-रक्षा के लिए अपने प्यारे प्राणों का भी परित्याग कर देने वाली पतिव्रता सती धारिणी सचमुच धन्य है।

चन्दनबाला (वसुमती)

चन्दनबाला उसी सती धारिणी के गर्भ से पैदा हुई थी, जिसका परिचय हम इससे पहले के चरित्र मे दे चुके है। वसुमती इसका बचपन का नाम था।

राजा शतानीक के साथ हुए युद्ध मे हारकर, वसुमती का पिता राजा दधिवाहन भाग गया था। उसका कुटुम्ब शत्रु के एक योद्धा के हाथ लगा और रानी धारिणी को उस योद्धा से अपनी सतीत्व-रक्षा करने के लिए अपने प्राणों का बलिदान करना पडा, यह भी हम धारिणी के चरित्र से जान चुके है।

माता की मृत्यु से वसुमती को बहुत रज हुआ और वह हृदय-विदारक विलाप करने लगी। यहाँ तक कि उसके विलाप को सुनकर उस योद्धा को भी दया आगई। काम-विकार उसके मन से जाता रहा और उसने वसुमती को अपनी बहन के समान मानकर घर रखने का वचन दिया।

इसमे शक नहीं कि योद्धा शुद्ध भाव से ही उसे अपने घर ले गया था, फिर भी उसकी पत्नी को शंका हुई कि इस सुन्दर स्त्री को मेरा पति अपनी उपपत्नी करके ही लाया होगा। अपनी सौत का

आगमन उसे सहन न हो सका। उसने पति को धमकाया और कहा कि तुम इतने पर भी नहीं मानोगे तो मैं राज मे पुकार करूंगी। तब यह सोचकर कि मुझपर व्यर्थ ही लम्पटता का दोष लगेगा, वह वसुमती को दासी की तरह बेचने के लिए बाजार मे ले गया।

वसुमती का सौन्दर्य अपूर्व था। ऐसी सुन्दर युवती को बिकते देख बहुत से लोग खरीदने के लिए आए। अनेक वेश्यायें भी आई, जो वसुमती के लिए चाहे जितना मूल्य देने को तैयार थीं। आखिर योद्धा को मुह मांगा मूल्य देकर एक वेश्या ने वसुमती को खरीद लिया। जब वेश्या ने उससे अपने साथ चलने के लिए कहा, तो वसुमती ने उससे पूछा—"बहन! तुम कौन हो? कैसा तुम्हारा कुल है? किस जाति की हो?" पर वेश्या ने बीच मे ही रोककर कहा—"मेरे कुल को जानकर तुझे क्या करना है? मैंने तो तुझे खरीदा है, अब मैं तेरी मालिक हूं। हमारे यहां तुझे बढ़िया-से-बढ़िया वस्त्राभूषण पहनने को मिलेंगे, चबाने को पान मिलेंगे, और तरह-तरह के स्वादिष्ट भोजन खाने को मिलेंगे। हमारे यहां जैसे भोजन तो राजमहलो मे भी नहीं मिलते।" अब वसुमती को विश्वास होगया कि यह तो अपने तथा अन्य स्त्रियों के रूप का व्यापार करने वाली वेश्या है। 'चाहे जो हो पर वेश्या के यहां तो नहीं जाऊंगी,' ऐसा उसने निश्चय किया। वेश्या उसपर जोर-जबरदस्ती करने लगी, तब वसुमती ने एकाग्र चित्त से भगवान की प्रार्थना की और उसीकी मदद मांगी। सत्य सकल्प हो, शुद्ध एकाग्र चित्त से प्रार्थना की जाय, तो भगवान जरूर सहायक होते हैं, यही यहां भी हुआ। देखते-देखते

एक वाण आया और उससे वेश्या की नाक कट गई। अन्य वेश्याओं ने यह देखा तो उन्हे भी भय हुआ, और उस वेश्या को अपने साथ लेकर वे वहाँ से चली गई। तव योद्धा वसुमती को दूसरे बाजार मे ले गया। वहाँ धनावह सेठ ने उसे दासीरूप मे खरीदने की इच्छा प्रकट की। सेठ के यहाँ जो काम करते थे वे शुद्ध और धर्मानुकूल होने से वसुमती ने उसके घर जाना स्वीकार कर लिया।

वसुमती सेठ के साथ उसके घर गई। सेठ ने उसे अपनी पत्नी के सुपुर्द कर दिया और कहा कि इस कन्या का सावधानी से पालन करना। परन्तु सेठ की पत्नी मूला भी बहुत वहमी थी। उसे शंका हुई कि मै अव वृद्धा होने लगी हूँ और यह सुन्दरी विलकुल नौजवान है, कहीं ऐसा न हो कि आगे चलकर सेठ की नीयत बिगड जाय, वह इससे उलझ गया तो फिर मेरी तो बड़ी दुर्दशा होगी।

एक दिन की वात है कि मूला कही वाहर गई हुई थी और वसुमती सेठ को अपने पितृतुल्य मानकर उसके पांव धो रही थी। पांव धोते-धोते अकस्मात उसके सिरपर से कपडा खिसककर उसकी चोटी (वेणी) जमीन पर गिर पडी और सेठ ने उसे अपने हाथ मे उठाली। संयोगवश इसी समय सेठानी मूला भी वहाँ आ पहुची। अव तो उसकी शंका और भी दृढ हो गई। उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि इस वसुमती-रूपी कांटे को तोड़कर ही रहूँगी।

दूसरे ही दिन सेठ को अनुपस्थित देख, मूला ने नाई को वुला-कर वसुमती का सिर मुण्डवा दिया और पैरों मे वेड़ी डालकर उसे तहखाने मे वन्द कर दिया। सेठ ने वाहर से आकर पूछा, तो सेठानी

ने कहा "मन मौजी छोकरी है, जहाँ जी में आया चली गई होगी। चलो जाने दो, गई तो आफत टली, नहीं तो ऐसी सुन्दर लड़की को अपने घर रखने से किसी दिन कलंक ही लगता।" लेकिन सेठ को वसुमती पर बड़ा स्नेह हो गया था, उसने कहा, 'जबतक वसुमती न मिलेगी मैं भोजन नहीं करूँगा'। उधर तहखाने मे पडी हुई वसुमती अपने भाग्य को कोस रही थी—"मेरे पूर्वजन्म के कर्म बुरे होंगे, नहीं तो भला इस प्रकार एक के बाद एक दुःख क्यों पड़ते ? खैर, भगवान जो-कुछ करता है वह अच्छे के ही लिए करता है। मुझे ऐसा एकान्त स्थान मिला है, तो मैं निर्विघ्न धर्म-साधना करूँगी। अपनी दूषित आत्मा को भगवान के चरणों मे समर्पित करके मैं शुद्ध बनूँगी। ऐसा करते हुए यदि इस शरीर का अन्त भी हो जाय तो अगले जन्म मे तो मेरा उद्धार होगा ही।"

इस प्रकार सोचकर वसुमती ने 'पच परमेष्ठी नमस्कार' रूप नवकार मंत्र का जप शुरू किया। साथ ही तीन उपवास भी इस तहखाने मे उसने किये। महामंत्र के जप और उपवास के तप से उसके पूर्वजन्म के पाप-कर्मों का क्षय होगया।

पुण्य का उदय होने के साथ ही अब सब संयोग अनुकूल हो गये। श्री वीरप्रभु गुप्त वेश मे विचरण करते हुए कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन कौशाम्बी नगर के बाहर आये। वहाँ उन्होंने ऐसा अभिग्रह किया कि 'कोई स्त्री चौखट पर बैठी हो, एक पैर घर के अन्दर और एक बाहर हो, राजकन्या होने पर भी दासी बनी हुई हो, पैरों मे बेडी हो, सिर मुण्डा हो, और रुदन करती हो, ऐसी स्त्री

अष्टमी के दिन छाज के कोने से उड़द के छिलके दे तभी मैं पारणा करूँगा।'

उधर वसुमती के न दीखने पर सेठ को उपवास करते हुए तीन दिन हो गये तो एक दासी को उन पर दया आई और उसने सारा हाल उनसे कह दिया। सेठ ने तहखाना खोला तो देखा, कि वसुमती एकाग्र-चित्त होकर भगवान का ध्यान कर रही थी और उसके नेत्रों से प्रेमाश्रु बह रहे थे।

सेठ ने उसे तहखाने से बाहर निकाला और सेठानी दरवाजे पर ताला लगाकर कहीं गई हुई थी इसलिए, उसे चौखट पर बैठाकर दासी को उसके लिए खाना लाने को कहा। दासी के पास उस समय और कोई भोजन नहीं था, इसलिए वह रांधे हुए उडदों के छिलके ले आई, उन्हींको छाज मे रखकर सेठ ने राजकन्या के आगे रख दिया।

वसुमती ने सोचा कि आज पर्व-दिन है। इतने उपवास किये बाद अब मुझे पारणा करने का अवसर मिला है। अतः किसी शुद्ध चित्त-वाले अतिथि को भोजन कराकर उसके बाद में पारणा करूँ तो अच्छा होगा। वह यह सोच ही रही थी कि इतने मे श्रीवीर प्रभु वहाँ पहुचे। उनको देखकर वसुमती के हर्ष का ठिकाना न रहा। उसने उनका बडा स्वागत सत्कार किया और भोजन ग्रहण करने की प्रार्थना की, परन्तु वीरप्रभु ने जो अभिग्रह सोच रक्खा था उसमे अभी रुदनवाली बात बाकी थी, अत. वह वापस चल दिये। यह देख भक्त-हृदया वसुमती को बडा दुःख हुआ, कि ऐसा योग्य अतिथि मेरी प्रार्थना को अस्वीकार करके वापस जा रहा है, और शोकावेग मे वह अपनी आँखो के

प्रवाह को न रोक सकी। अब तो वीरप्रभु की सोची हुई सभी बातें पूरी हो गई, अतः वह जाते हुए रुक गये और प्रसन्नतापूर्वक वसुमती की प्रार्थना स्वीकार करके उन्होंने पारणा किया। वसुमती की दृढता और धर्म-भावना की उन्होंने खूब प्रशंसा की, और उनके आशीर्वाद से वसुमती के पैरों में जो बेडियाँ पडी हुई थीं वे सुवर्ण की हो गई तथा उसके सिर मे नये बाल निकल आये।

महावीर-स्वामी को प्रथम पारणा कराने के कारण, सब इसके जीवन को धन्य मानने लगे। वसुमती भी कुछ ऐसा ही समझने लगी, कि अब तो मेरा जीवन सफल हो गया। वह बडी उदार-हृदय थी। अपने को सतानेवाली मूला सेठानी को उसने कोई श्राप नहीं दिया, बल्कि इस बात के लिए उसका बहुत उपकार मानने लगी कि उसीके कारण महावीर-स्वामी की इस प्रकार सेवा करने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ।

इसके बाद कुछ समय तक धनावह सेठ और सेठानी मूलादेवी की प्रेमपूर्ण छत्रछाया मे रहकर फिर वसुमती ने श्री महावीर-स्वामी से चारित्र्य ग्रहण किया, और उसकी देखा-देखी, राजा शतानीक की रानी मृगावती ने भी दीक्षा ले ली। तदनन्तर वसुमती को कैवल्य-ज्ञान हुआ और अन्त मे वह मुक्त हो गई।

इस पवित्र सती के नाम का स्मरण जैनी लोग आज भी अपने धार्मिक कृत्यों के समय रोज करते है।

४

सुव्रता

मदनरेखा

मदनरेखा सुदर्शनपुर के राजा मणिरथ के छोटे भाई युगबाहु की पत्नी थी। रूप मे यह बहुत आकर्षक और स्वभाव की अत्यन्त सुशील थी। पति भी इसका बहुत धार्मिम प्रवृत्तिवाला था। पति-पत्नी का सासारिक जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता था। परन्तु मदनरेखा के अनुपम रूप-सौन्दर्य ने ही उसमे बाधा उपस्थित करदी।

मदनरेखा के अपूर्व सौन्दर्य को देखकर उसका जेठ मणिरथ उसपर मुग्ध हो गया। उसकी नीयत बिगड गई। दुष्ट मणिरथ के मन मे अपने छोटे भाई की पत्नी मदनरेखा के लिए विकार का भाव उत्पन्न हुआ, और मदनरेखा को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए उसने दासी के द्वारा उसके पास बहुमूल्य वस्त्राभूषण का उपहार भेजा। मदनरेखा के हृदय मे कोई पाप न था, उसने राजा का प्रसाद समझकर निर्दोषभाव से उसे ले लिया। परन्तु इसके बाद दासी फिर आई और मदनरेखा से राजा की आसक्ति की बात कही। मदनरेखा सती स्त्री थी। दासी की यह बात तीर की तरह उसके हृदय मे चुभी। उसके क्रोध और शोक का ठिकाना न रहा। उसी आवेश मे उसने दासी से कहा:--

"मेरे जेठ होकर महाराज को ऐसा सन्देश भेजते हुए शर्म नहीं आती ? वेश्याओं के भाई भी ऐसा तो नहीं करते। वे कभी अपनी बहनों के पास अपनी काम-वासना की तृप्ति के लिए नहीं जाते। फिर जिस स्त्री मे सतीत्व का गुण नहीं वह नरकगामी होती है। तेरे राजा के अन्तःपुर मे तो सुन्दर स्त्रियां मौजूद हैं, उनके होते हुए पर-स्त्री की इच्छा क्यों ? अभी तो मेरे पति ज़िन्दा हैं, उनके होते कोई मुझपर कुदृष्टि डालेगा तो जरूर मौत के मुँह मे जाएगा। मुझपर तो कोई बलात्कार करे तो भी मैं पर-पुरुष को अपना शरीर न छूने दूंगी, चाहे इसके लिए मुझे प्राण ही क्यों न दे देने पड़े। भले आदमी तो, चाहे यह लोक हो या परलोक, कोई विरुद्धाचरण करते ही नहीं हैं, क्योंकि जीवहिंसा, असत्य वचन, पर द्रव्यहरण और पर-स्त्री-गमन ये चारों बातें नर्क मे ले जानेवाली हैं। फिर राजाओं को तो पर-स्त्री की इच्छा कभी करनी ही नहीं चाहिए, क्योंकि सारी प्रजा उन्हींके उदाहरण का अनुसरण करती है।"

दासी ने जाकर राजा से सब हाल कहा। परन्तु कामवश राजा की मति मारी गई थी। उसने सोचा की भाई के जिन्दा रहते तो मेरी कामना पूरी होगी नहीं, इसलिए पहले उसीको खत्म करना चाहिए। इस प्रकार कामवश विवेक-बुद्धि-शून्य राजा अपनी अधम वासना की तृप्ति के लिए अपने सगे भाई का ही वध करने को तैयार हो गया।

मदनरेखा ने एक दिन स्वप्न में पूर्ण चन्द्रमा देखा। अपने पति से उसने इस स्वप्न का हाल कहा, तो पति ने इसका यह अभिप्राय बतलाया कि उसके उदर से चन्द्रमा के समान सौम्य गुणवाला पुत्र पैदा होगा।

गर्भावस्था मे मदनरेखा जिनेन्द्र की पूजा, गुरुओं की वन्दना और धर्म-कथा का श्रवण करने लगी, क्योंकि गर्भावस्था मे माता के भाव-विचार जैसे होते है उसका उदरस्थ बालक पर बहुत असर पडता है।

सगर्भावस्था मे एक दिन वह उपवन मे अपने पति के साथ विनोद कर रही थी, इतने मे दुष्टमति राजा मणिरथ वहाँ आ पहुंचा। युगवाहु उससे मिलने गया। उस समय मणिरथ ने उसे बातचीत मे लगा कर अचानक उसपर तलवार का प्रहार किया और फिर ढोंग करके इस प्रकार रोने लगा, मनों जानबूझ कर नहीं बल्कि गलती से यह घटना हो गई हो। मदनरेखा ने जब अपने पति की यह दशा देखी तो रोने-चिल्लाने लगी। उसके नौकर यह सब देख राजा को मारने के लिए आगे बढ़, परन्तु उदार-हृदय युगवाहु ने उन्हें रोक दिया।

युगवाहु के पुत्र चन्द्रयशा को जब यह खबर मिली तो वह तुरन्त वहाँ आकर उसकी मरहमपट्टी करने लगा। मदनरेखा ने भी पति की बहुत सेवा की। न केवल शारीरिक सेवा से, बल्कि ज्ञानामृत द्वारा भी पति की पीडा को कम करने का उसने प्रयत्न किया। पति को उसने आश्वासन दिया, कि "आप शोक बिलकुल न करें। कर्मो से कभी मुक्ति नहीं मिलती जीवन मे मनुष्य जो सुख पाता है वह उसके पूर्व-जन्मों के कर्म का ही फल है। अतः आपने जाने-अनजाने, मन-वचन-कर्म से, जो कोई पाप किये हों, उनके लिए प्रभु से क्षमा-याचना करें। राग-द्वेष किसी के प्रति न रक्खे। किसीने आपको कोई दुःख दिया हो, सताया हो, तो उसको उदारता पूर्वक क्षमा करदे। दुनियाँ के सारे

पदार्थ और समस्त सुख चल (अस्थिर) है, केवल धर्म ही अचल (स्थिर) है। इसलिए धर्म का आश्रय लेकर आप धैर्य धारण करें।"

इस प्रकार धर्म-ज्ञान की चर्चा करके मदनरेखा ने अपने पति को अन्तकाल में शान्ति प्रदान की। तलवार के घाव से युगवाहु अच्छा न हुआ, परन्तु पत्नी की मीठी और धर्मयुक्त बातों से उसे बडी शान्ति मिली। आखिर भगवान का ध्यान करते हुए उसकी मृत्यु हो गई।

पति-वियोग से मदनरेखा को बडा रंज हुआ। विलाप तो उसने वहुत किया, परन्तु साथ ही यह भी वह समझती थी कि अव समय खोने से काम न चलेगा। अपने कामान्ध जेठ पर उसे विश्वास न था। अत वह वहाँ न रहीं और एक अज्ञातवन मे अपनी सतीत्वरक्षा के लिए रहने लगी। पति-मृत्यु के समय वह गर्भवती थी, यह हम पहले कह ही आये हैं। गर्भ-काल समाप्त होने पर, वहाँ उसके एक पुत्र पैदा हुआ। उस पुत्र को अपने पति के नाम की अगूठी पहना एक वृक्ष-तले सुलाकर वह नदी मे नहाने गई थी, वहाँ विद्याधर नामक एक ब्राह्मण उसके रूप पर मुग्ध हो गया। उसने मदनरेखा को अनेक प्रलोभन देकर, अपनी पत्नी वनने के लिए कहा तव मदनरेखा ने एक चाल चली, उसने कहा कि "पहले तुम मुझे अपने साथ नन्दीश्वर ले चलो, वहाँ देवताओं को प्रणाम करने के वाद जैसा तुम कहोगे वैसा करूँगी।" विद्याधर ने यह वात मान ली और अपने विमान मे वैठा कर उसे नन्दीश्वर ले गया। वहाँ मदनरेखा ने भक्ति-भाव से देवताओं की पूजा की। विद्याधर का पिता मणिचूड मुनि वहीं रहता था। अपनी, दिव्यशक्ति से उसे अपने पुत्र के अधम विचार का

पता लग गया। उसने बड़े मार्मिक शब्दों मे अपने पुत्र को समझाया। कि पर-स्त्री-गमन का विचार तक करना कितना बडा पाप है और परस्त्री-गमन से मनुष्य नरक मे जाता है। उसने इतनी अच्छी तरह उसे समझाया कि विद्याधर पर असर हो गया और उसे अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा। उसने मदनरेखा से क्षमा मांगी और कहा—"अव से तू मेरी वहन है, वता मैं तेरी क्या सेवा करूं ?" मदनरेखा ने कहा—"तुमने तीर्थ-दर्शन कराके मेरा वडा उपकार किया है, और अव तो तुम मेरे भाई ही वन गये हो। यह क्या कुछ कम वात है ?"

मुनि से मदनरेखा को अपने पुत्र का पता भी लग गया। मदनरेखा के मन मे जन्म-मरण, जरा, रोग-शोक से रहित अचल मोक्ष का सुख प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हुई, परन्तु पुत्र-स्नेह के कारण एक वार उससे मिलने की उत्कण्ठा थी, इसलिए वह पहले मिथिला नगर गई। वहा एक विदुषी साध्वी रहती थी, मदनरेखा ने उसके दर्शन किये। उसने मदनरेखा को जो धर्मोपदेश किया- उसका इतना प्रभाव पड़ा कि पुत्र के लिए उसके मन मे जो आसक्ति थी वह भी जाती रही, और पुत्र से मिलने का विचार छोड़ कर उस साध्वी से ही उसने चारित्र ग्रहण कर लिया। तब मदनरेखा के वजाय सुव्रता उसका नाम रक्खा गया।

मदनरेखा का छोटा पुत्र, जिसे वह वन मे छोड़ आई थी पद्मरथ राजा को मिला। उन्होंने उसे वड़े लाड-प्यार से पाला। उसका नाम नमि रक्खा गया और पद्मरथ ने उसे सव विद्याओं मे पारंगत वना

दिया। यही नहीं, उत्तरावस्था में स्वयं वानप्रस्थ लेकर अपना राज्य भी उसीको सौंप दिया।

उधर मदनरेखा का बड़ा पुत्र चन्द्रयशा अपने चाचा मणिरथ की अकालमृत्यु हो जाने से उसका उत्तराधिकारी हुआ। एकबार एक हाथी के लिए उसके और नमि के बीच युद्ध हुआ। मदनरेखा को जब यह पता चला तो वह सोचने लगी कि दोनों सगे भाई नाहक एक-दूसरे पर हाथियार चलायेंगे, फिर युद्ध में हजारों निर्दोष प्रणियों की भी वध होगा। अतः उक्त साध्वी से पूछकर वह स्वयं रणक्षेत्र में पहुँची और चन्द्रयशा तथा नमि दोनों को उपदेश दिया और यह विश्वास करा दिया कि वे दोनों एक-दूसरे के सगे भाई है। फलतः युद्ध रुक गया और चन्द्रयशा ने अपने छोटे भाई नमि को राजपाट सौंपकर स्वयं धर्म को दीक्षा ले ली। इसके कुछ समय बाद नमि के मन मे भी ससार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने भी अपने बड़े भाई तथा माता का अनुसरण किया। अपने पुत्र को राज्य सौंपकर वह भी धर्म-सेवन में जीवन-यापन करने लगा; और बडा संयमी एवं ज्ञानी निकला।

मदनरेखा को यह देख कर बडा आनन्द हुआ कि उसके दोनों ही पुत्र धार्मिक प्रवृत्ति वाले, निर्लोभी और कर्त्तव्य-परायण निकले। स्वयं वह भी सब कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष की अधिकारिणी बन गई।

५

शत्रु को छकानेवाली

मृगावती

मृगावती कौशाम्बी के राजा शतानीक की पत्नी और चेटक-राजा की पुत्री थी। श्री महावीर स्वामी के समय मे इसका जन्म हुआ था। यह वडी सुन्दरी और बुद्धिमान् थी। अपने सद्‌गुणों के कारण उसने पति का प्रेम खूब पाया हुआ था।

एक दिन राजा शतानीक के दरबार में एक कुशल चित्रकार आया। इस चित्रकार को किसी यक्ष के वरदान से ऐसी सिद्धि मिली हुई थी कि शरीर का कोई भी अंग देख लेता तो उसी पर से उसका पूरा शरीर चित्रित कर सकता था। राजा शतानीक ने उस चित्रकार से कितना ही काम कराया। एक दिन चित्रशाला मे बैठा हुआ वह चित्र बना रहा था कि अकस्मात् अन्तःपुर में बैठी हुई रानी मृगावती के पैर के अंगूठे पर उसकी दृष्टि पडी। अपनी अद्‌भुत शक्ति से उसी पर से उसने रानी का पूरा चित्र तैयार कर डाला। रानी की जांघ पर एक तिल था, वह तक चित्र में आ गया। चित्रकार ने कई बार उसे चित्र मे से निकालने की कोशिश की, लेकिन वह उसे हटा न सका; अतः उस तिल को चित्र में रखना ही पडा। चित्र तैयार हो

जाने पर राजा को बताया गया। चित्र देखते ही राजा के मन मे अपनी पतिव्रता रानी के प्रति सन्देह उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगा—'इस चित्रकार से रानी का गाढ-सम्बन्ध अवश्य होगा, नहीं तो इस गुप्त चिन्ह को वह कैसे जान सकता था ?' इस सन्देह का शिकार होकर राजा ने चित्रकार को मार डालने के लिए कहा। उसपर बहुत से लोगों ने बताया कि चित्रकार को यक्ष का वरदान है। दूसरे जरियों से राजा ने इस बात की जाँच की तो उसे भी इस बात का विश्वास हो गया। तब मृत्यु-दण्ड से तो उसने चित्रकार को माफ़ कर दिया, मगर एक अंगुली काटकर उसे अपने यहाँ से निकलवा दिया।

चित्रकार को यह बात बहुत बुरी लगी। उसमे प्रतिहिंसा का भाव जागृत हुआ; और राजा से उसने इसका बदला लेने का निश्चय किया। अतः अवन्ती के राजा चण्डप्रद्योत के पास वह गया और उसे रानी मृगावती का चित्र बताया। रानी का रूप-लावण्य तो अनुपम था ही, चण्डप्रद्योत उसपर मोहित हो गया, और उसे अपने हस्तगत करने के लिए उसने राजा शतानीक पर चढ़ाई करदी। शत्रु की विशाल सेना देखकर, युद्ध से पहले ही अतिसार-रोग से राजा शतानीक की मृत्यु हो गई।

इधर राजा की मृत्यु और उधर शत्रु की चढ़ाई। रानी मृगावती असमजस मे पड़ गई। उसे शोक तो बहुत हुआ, परन्तु किसी भी तरह क्यों न हो पर अपने सतीत्व एवं छोटे बच्चे की रक्षा करने का उसने निश्चय किया। इसके लिए उसने एक युक्ति सोची। वह यह कि अपनी दासी द्वारा अवन्ती-नरेश को कहलाया, कि "मेरे पतिदेव का

स्वर्गवास हुआ है और पुत्र उदयन अभी बच्चा है; अतः अभी तो माफ़ करो। जब उदयन बड़ा होकर राज करने के क़ाबिल हो जायगा, तब मैं आपके साथ चलूँगी। अभी तो अगर आपने बलात्कार किया तो मैं आत्महत्या ही कर लूँगी। इसलिए अभी तो मिहरबानी करके आप वापस ही चले जायं। हाँ, आस-पास के शत्रु-राज्यों से मेरे राज्य को भारी भय है, इसलिए अगर आप अवन्ती से बड़ी-बड़ी ईंटें भेजकर एक मजबूत किला बनवा दें तो मैं उनसे सुरक्षित रहूँगी।"

कामी राजा रानी को इस प्रकार सहज ही तैयार होते देख फूल उठा। उसे यह खयाल भी न हुआ कि इसके पीछे कोई चाल होगी। अतः उसने रानी की बात मानली और अवन्ती से ईंटें मंगाकर कौशाम्बी के आस-पास एक मजबूत किला बनवा दिया, यही नहीं बल्कि नगर में अन्न, घास, पानी आदि की भी पर्याप्त व्यवस्था करदी। जब क़िला बन चुका और सब व्यवस्था हो गई तो थोड़े-थोड़े समय बाद राजा चण्डप्रद्योत मृगावती को बुलाने के लिए दूत भेजने लगा। उसने रानी को कहलवाया—"मैंने अपना वचन पूरा कर दिया है, अब तुम भी अपने वचन का पालन कर मेरे साथ रहने के लिए चली आओ।"

विधवा रानी मृगावती ने जब दूत के मुंह से यह बात सुनी, तो उसे बड़ा गुस्सा आया और जवाब में उसने कहलवाया—"मूर्ख! तू ऐसी दुष्ट अभिलाषा हर्गिज न रख। मैंने तो स्वप्न में भी तुमसे प्रेम नहीं किया। तुझे मालूम होना चाहिए कि मैं आर्य रमणी हूं, पति ही सदा मेरा आराध्यदेव रहा है और जीवन-पर्यन्त वही मेरा आराध्य-

देव रहेगा। उस समय मैं निराधार और अरक्षित थी, इसीलिए अपनी रक्षा करने को उस समय मैंने वह चाल चली थी।"

मृगावती की बात जब राजा चण्डप्रद्योत ने सुनी, तो उसे विश्वास हो गया कि सचमुच इसने मुझे छकाया है। तब उसने मृगावती को धमकी भेजी, कि "अगर तू अपना और अपने पुत्र का हित चाहती हो तो शीघ्र यहाँ चली आ, नहीं तो मैं तेरे राज्य को मलियामेट कर डालूँगा।" परन्तु रानी मृगावती पर इस धमकी का कोई असर न हुआ। क़िले को बन्द कर वह आत्म-रक्षा के लिए तैयार होगई।

इसी बीच श्री महावीर स्वामी पर्यटन करते हुए वहाँ आये। उन्हें वहाँ आया देख मृगावती को बड़ी खुशी हुई। उसे विश्वास हो गया कि मेरी मदद के लिए ही प्रभु महावीर स्वामी यहाँ आये हैं। अतः बड़े हर्ष के साथ उसने इन परम-विद्वान् तीर्थंकर की पधरामणी का।

राजा चण्डप्रद्योत को महावीर-स्वामी के आने का हाल मालूम हुआ, तो वह भी उनका मधुर उपदेश सुनने के लिए मृगावती के नगर कौशाम्बी मे गया।

महावीर-स्वामी जब उपदेश कर रहे थे, तो उन्होंने एक भील के पूर्वजन्म का हाल सुनाया और उसपर से बतलाया कि काम वासना से कैसे अनिष्ट परिणाम होते हैं। उन्होंने इतने सुन्दर ढंग से यह बात कही कि राजा चण्डप्रद्योत पर असर कर गई और उसका भी मन निर्मल हो गया। उधर पतिव्रता रानी मृगावती के हृदय मे भी वैराग्य का संचार हुआ, अपना सतीत्व नष्ट करने के लिए तत्पर होनेवाले राजा चण्डप्रद्योत के प्रति उसका वैर-भाव नष्ट हो गया, और उसने

हाथ जोड़कर महावीर-स्वामी से कहा—"राजा चण्डप्रद्योत की मैं शरणागत हूं, अतः उनकी आज्ञा हो तो मैं आपसे चारित्र ग्रहण करना चाहती हूं।" राजा चण्डप्रद्योत ने तुरन्त उसे दीक्षा लेने की स्वीकृति देदी, और उसके पुत्र उदयन को कौशाम्बी का राजा बनाया।

पुत्र का राज्याभिषेक हो जाने पर सती मृगावती ने चण्डप्रद्योत की आठ रानियों के साथ धर्मदीक्षा लेली। महावीर स्वामी ने इन नवों स्त्रियों को शिक्षा-प्राप्ति के लिए साध्वी चन्दनवाला के पास रक्खा। वहाँ मृगावती ने धर्म की उच्च शिक्षा प्राप्त की। जैनधर्म के व्रत, अनुष्ठान आदि का उसने यथायुक्त रीति से पालन किया। फिर अपनी अपूर्व साधना से साधकों के लिए भी अति दुःसाध्या मानी जानेवाली कैवल्य-ज्ञान की सिद्धि भी उसने प्राप्त की थी। इसी ज्ञान के कारण, एकबार जब इसकी गुरु चन्दनवाला सो रही थी तो वहाँ घोर अन्धकार में एक साँप को आते हुए देखकर इसने अपनी उपदेशिका को उसके काटने से बचाया था।

मृगावती का जीवन एक आदर्शजीवन था। उसकी समय-सूचकता इस बात का स्पष्ट चिन्ह है कि वह एक 'अबला' या 'रमणी' ही नहीं बल्कि एक चतुर स्त्री और ऊँचे दर्जे की कूटनीतिज्ञ थी। आज भी हमारी बहनें उसके चरित्र से बहुत-कुछबोध और प्रेरणा प्राप्त कर सकती हैं।

६

कसौटी पर उतरी हुई सती

सुभद्रा

यह सुभद्रा महाभारत-काल की अर्जुन-पत्नी सुभद्रा नहीं, जैन-काल की एक सती थी। वसन्तपुर नगर के राजा जितशत्रु के प्रधान जिनदास की यह पुत्री थी। और तत्त्वमालिनी इसकी माता का नाम था। इसके माता-पिता ने इसे धर्म और नीति-शास्त्र की ऊँची शिक्षा दी थी। वे जैनधर्मी थे, इसलिए बचपन से ही उन्होंने सुभद्रा को जैनधर्म के तत्त्वज्ञान की शिक्षा दी। पूजा-अर्चना तथा अतिथि-अभ्यागतों का स्वागत-सत्कार करने मे यह बहुत प्रवीण थी। इसकी ये सब बातें देखकर, माता-पिता की इच्छा थी कि किसी सुपात्र जैन से ही इसका विवाह किया जाय।

इसी बीच बुद्धदास नामक चम्पानगरी का एक वणिक वहाँ आया। वह बौद्धधर्मानुयायी था। सुभद्रा का सौन्दर्य देख कर वह उसपर बहुत मुग्ध हुआ और मन में उसीसे विवाह करने की आकांक्षा करने लगा। जब उसने सुभद्रा के माता-पिता और कुल का पता लगाया तो उसे मालूम पडा कि सुभद्रा के माता-पिता किसी सद्गुणी धर्म-निष्ठ जैन के साथ सुभाद्रा का विवाह करना चाहते हैं। तब बुद्धदास

ने बौद्धधर्म छोड कर जैन-मार्ग ग्रहण किया; और अपने आचार-विचार तथा धर्म शास्त्र के ज्ञान से सुभद्रा के पिता को प्रसन्न कर सुभद्रा के साथ विवाह किया।

सुभद्रा-जैसी परम रूपवती, सद्गुणी और सुशिक्षित पत्नी प्राप्त होने पर बुद्धदेव के हर्ष का ठिकाना न रहा। कई वर्ष तक वह वसन्तपुर रहा, वहाँ से खूब धन कमाकर वापस अपने गाँव गया। सुभद्रा भी उसके साथ अपनी ससुराल गई। वहाँ पहुँचने पर सुभद्रा ने अपने सास-ससुर को नम्रतापूर्वक प्रणाम किया। दूसरे दिन जब उसने अपनी सास से जैन-देवाश्रम मे जाकर पूजा करने की आज्ञा माँगी, तब उसे मालूम पडा कि उसके ससुराल वाले सब बौद्ध हैं। सास ने सुभद्रा से कहा कि तुम भी जैन-धर्म छोड़ कर बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लो, परन्तु उसने एसा करना मंजूर न किया। इससे सास उसपर बड़ी अप्रसन्न हुई और रात-दिन उसमे ऐब निकाल-निकाल कर उसके विरुद्ध अपने पुत्र के कान भरने लगी। परन्तु बुद्धदास सब समझता था। उसने माता की बातों पर विश्वास कर सुभद्रा को दुःख नहीं दिया। वह तो सदा यही कहता कि सुभद्रा के सतीत्व में मुझे पूरा विश्वास है।

इस तरह दिन बीत रहे थे कि एक दिन एक जैन साधु सुभद्रा के यहाँ भिक्षा लेने आया। साधु की आंख में एक तिनका पड़ा हुआ था। शारीरिक सुख पर बहुत ध्यान नहीं देना चाहिए, यह सोच कर साधु ने अपनी आंख से तिनका निकालने का कोई प्रयत्न नहीं किया; परन्तु कोमल-हृदया सुभद्रा से साधु का यह दुःख न देखा

गया। अतः उसने अपनी कोमल जीभ से जैन मुनि की आंख का वह तिनका निकाल दिया। तिनका निकालते समय सुभद्रा के माथे से मुनि का माथा छू गया और संयोगवश सुभद्रा के मस्तक पर लगे हुए तिलक की केसर मुनि के मस्तक पर भी लग गई। साधु के मस्तक के उस निशान पर सुभद्रा की सास की नजर पडी—फिर क्या था, उसे सबूत बनाकर, अपने पुत्र बुद्धदास के उसने कान भरे। फलतः उस दिन से बुद्धदेव भी अपनी पत्नी से नाराज़ रहने लगा। पति-प्रेम से वंचित होने की सुभद्रा के हृदय पर गहरी चोट लगी। उसने ईश्वर के ध्यान और व्रतों के अनुष्ठान मे अपना मन लगाया और देवी-देवताओं से प्रार्थना की कि मुझे इस कलंक से मुक्त करो। आखिर प्रसन्न होकर देवी ने कहा—"सती! कल तू इस कलंक से मुक्त हो जायगी"।

दूसरे दिन सबेरे दरबान लोग शहर के दरवाजे खोलने गये तो एक भी दरवाजा न खुला। द्वारपालों को इससे बडा आश्चर्य हुआ और उन्होंने जाकर राजा को सब हाल सुनाया। सब हाल सुनकर राजा स्वयं दरवाजों पर गया, परन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी कुछ न हो सका। तब यह सोचकर कि अवश्य यह कोई दैवी प्रकोप है, वह मन-ही-मन ईश्वर से इसके लिए प्रार्थना करने लगा। तब आकाशवाणी हुई, कि "कोई सती स्त्री सूत के कच्चे धागे से चलनी मे कुए से पानी निकाल कर दरवाज़ों पर छिड़केगी तब दरवाजों के किवाड खुलेंगे"।

आकाशवाणी सुनकर राजा ने तदनुसार डोण्डी पिटवाई। और ऐसी स्त्री का राजद्वारा उपयुक्त सन्मान करने की घोषणा की गई।

इसके अनुसार नगर की अनेक स्त्रियों ने चलनी मे पानी निकालने का प्रयत्न किया, पर सफलता किसी को भी नहीं मिली।

आखिर सुभद्रा ने अपनी सास से ऐसा करने की अनुमति माँगी; परन्तु सास ने उसकी वात को हसी मे ही उड़ा दिया। तव सुभद्रा ने नम्रता के साथ समझाया, कि "आप अभी तक मुझे कुलटा समझती हैं; अतः इस वात की परीक्षा का यह अच्छा मौका है कि मुझ मे पति-भक्ति और सतीत्व है या नहीं। यदि मैं इस परीक्षा मे पूरी उतरूँ तो आपको मानना होगा कि मुझपर लगाया गया दोप ठीक नहीं है, और यदि पूरी न उतरूं तो कुल-कलंकिनी कुलटा मानकर मेरा त्याग कर देना।" आखिर सास ने उसकी वात मानली और सुभद्रा कुँए पर गई। कच्चे धागे से वंधी हुई चलनी मे उसने कुँए से पानी निकाला और हजारों स्त्री-पुरुपों के सामने शहर के तीन दरवाजों पर छिडका। पानी का छिड़कना था कि तीनों दरवाजे तुरन्त खुल गये। तव उसने शहर की अन्य स्त्रियों को लक्ष्य करके कहा—"अव आपमे कोई और सती हो, तो चौथा दरवाजा वह खोले।" परन्तु किसी भी स्त्री ने उसे खोलने का साहस नहीं किया और वह सदा के लिए बन्द ही रहा।

इस प्रकार सुभद्रा के सतीत्व की परीक्षा हो गई और वह कसौटी पर विल्कुल खरी निकली। राजा उससे वहुत प्रसन्न हुए। और उसका वडा आदर-सत्कार किया। सुभद्रा की सास को भी अव पश्चात्ताप होने लगा, कि ऐसी शीलवान वहू को मैंने अवतक व्यर्थ ही सताया। उसने सुभद्रा से इसके लिए क्षमा माँगी। सती सुभद्रा ने उदारता के साथ उसे क्षमा करके जैन-धर्म का महत्व समझाया।

इसके बाद कई वर्ष तक पति-सुख भुगत कर सुभद्रा ने जैन मुनि से संन्यास की दीक्षा ली और अपनी दुःखी-अज्ञान बहनों के हृदय में सुख और ज्ञान का संचार करते हुए अपनी शेष आयु बिताई।

८

नेमिनाथ-पत्नी

राजीमती

राजीमती मथुरा-नरेश उग्रसेन की पुत्री थी और धारिणी इसकी माता का नाम था। द्वारिका-नरेश समुद्रविजय के पुत्र नेमिनाथ के साथ इसका विवाह हुआ था।

इसके विवाह का एक मज़ेदार क़िस्सा है। इसका ससुर राजा समुद्रविजय अपने पुत्र नेमिनाथ के विवाह के लिए बड़ी भारी बारात लेकर मथुरा गया था। मथुरा-नरेश ने अपने समधी का आदर-सत्कार करने मे किसी तरह की कोई कसर न रक्खी। बारातियों की दावत के लिए उसने तरह-तरह के जानवरों को भी एक बाड़े में बन्द कर रक्खा था सयोगवश वर महाशय कुमार नेमिनाथ घूमते हुए उधर ही जा निकले, अतः बाड़े मे बन्द पशुओं का आर्त्तनाद उनके कानों मे पडा। उसे सुनकर उन्होंने अपने सारथी से कहा—"सारथी! यह आर्त्तस्वर किसका है?" जवाब में सारथी ने कहा—"कुमार! आपके विवाहोपलक्ष्य मे महाराज उग्रसेन बड़ी भारी दावत करने वाले है, उसमे हमारे साथ आने वाले बारातियों को भिन्न-भिन्न प्रकार के गोश्त खिलाने के लिए इन तरह-तरह के जानवरों को एकत्र किया गया है। उन्हींके चीखने-पुकारने की आवाज़ यहा तक आरही है।"

सारथी की बात सुनकर कोमल हृदय कुमार नेमिनाथ को बड़ा आश्चर्य हुआ यह सोचकर कि मेरे विवाह के निमित्त इतने निर्दोष जीवों का वध होगा, उनके हृदय में वैराग्य के भाव उत्पन्न हुए। अतः उन्होंने विवाह का विचार छोड़ कर तपस्या और धर्म-साधना का दृढ़ निश्चय कर लिया।

कुमार के इस निश्चय का पता लगने पर माता तथा अन्य सम्बन्धियों ने उन्हें बहुत-कुछ समझाया और संसार मे रहने का बहुत-कुछ आग्रह किया, पर दृढ-प्रतिज्ञ कुमार ने अपना संकल्प नहीं बदला और बन की ओर चल दिये।

राजीमती बहुत सुशील और विदुषी स्त्री थी। माता-पिता से उसे ऊँचे दर्जे की शिक्षा और अच्छे संस्कार प्राप्त हुए थे। नेमिनाथ पर वह सच्चे दिल से मुग्ध हो गई थी। नेमिनाथ को ही अपना हृदयेश्वर मान चुकी थी। ऐसी हालत मे ऐन वक्त पर ऐसी घटना से उसके कोमल हृदय को कितनी चोट लगी होगी, इसकी कल्पना भली-भाँति की जा सकती हैं।

नेमिनाथ से उसका केवल विवाह ही हुआ था, विवाह का संस्कार तो एक भी नहीं हुआ था। इस लिए वह चाहती तो नेमिनाथ के साधु हो जाने पर किसी अन्य योग्य वर को पसन्द कर उससे विवाह कर सकती थी, परन्तु प्रेम-सूत्र से जुड़े हुए हृदय के लिए संस्कार तो एक बाह्य आडम्बर मात्र है। अतः इस बाह्य संस्कार की मुहर चाहे उसके और नेमिनाथ के सम्बन्ध पर न लगी हो, परन्तु राजीमती के मन के तो यह पवित्र सम्बन्ध अविच्छेद्य ही था। अतः किसी अन्य

पुरुष के साथ विवाह करने से उसने स्पष्ट इन्कार कर दिया और नेमिनाथ के अवलम्बन किये हुए मार्ग का ही अनुसरण करने का दृढ निश्चय किया।

अपने निश्चय को कार्यान्वित करने के लिए राजीमती ने योगिनी का वेश धारण किया और वन को चल दी। वन में वह अपने पति की खोज करने लगी।

नेमिनाथ इस समय गिरनार पर्वत पर निवास करते थे। अतः राजीमती ने गिरनार पर्वत पर जाकर उनके दर्शन किये, और उनसे धर्म की दीक्षा ली। उसका मन वैसे तो पहले ही संस्कारवान था, नेमिनाथ के उपदेश से वह और भी विमल हो गया। भक्ति-रस का स्रोत उसके हृदय में वहने लगा। राजकन्या न रह कर वह परमत्यागी संन्यासिनी हो गई। इसके वाद उसने अपना समस्त जीवन धर्म-चर्चा और लोक सेवा में ही व्यतीत किया।

एक दिन राजीमती पति-नेमिनाथ के दर्शनों के लिए गिरनार पर्वत पर जा रही थी, इतने में पानी वरसने लगा और उसके सारे कपडे उससे भीग गये। गीले कपड़ों को सुखाने के लिए वह एक गुफा मे गई और नंगी होकर सव कपडे सुखाने को इधर-उधर फैला दिये। संयोग की वात है कि उसका देवर साधु रथनेमि भी इस समय इसी गुफा के एक कोने मे वैठा ध्यान कर रहा था। राजीमती ने न उसे देखा, न उसका कोई ध्यान ही था, परन्तु रथनेमि की नजर उस पर पड़ गई—और, अपनी भाभी राजीमती को नग्नावस्था मे देखकर, उसके अप्रतिम सौन्दर्य से वह उसपर वहत ही आसक्त हो गया। इस

समय यह सब ज्ञान उसे भूल गया कि मैं साधु हूं, संसार का मैंने त्याग कर रक्खा है, किसी भी स्त्री पर कुदृष्टि डालने से सीधे नरक को जाना होता है। बस, राजीमती से भोग करने की बातें ही चारों ओर से उसके दिमाग़ मे चक्कर लगाने लगीं।

सती राजीमती की निगाह भी उसपर पड़ी। उसे देखते ही उसने तुरन्त अपने गीले कपड़े पहन लिये, परन्तु रथनेमि के हृदय मे उठी हुई कामाग्नि शान्त न हुई। एकान्त देख कामी रथनेमि उसका सतीत्व-भग करने के लिए उतावला हो गया, और राजीमती को फुसलाने के लिए बड़ी मीठी-मीठी बातें करने लगा। देवर की काम-दृष्टि एवं काम-वासना युक्त बातों से सती राजीमती के हृदय को बडी गहरी चोट लगी। फिर भी उसने अपने मन को दृढ़ रक्खा और देवर को सम-झाने का प्रयत्न किया। उसने कहा—

"रथनेमिजी। देखो, आप और मैं, हम दोनों संसार-त्याग कर, साधु-वेश धारण करके, योगाभ्यास द्वारा निर्वाण पाने के लिए यहाँ आये हैं। इस पवित्र उद्देश के ही लिए हम सैकड़ों तरह के शारीरिक कष्ट भी उठा रहे हैं। अतः अब आपको अपना मन विचलित न होने देना चाहिए। जिस पवित्र आश्रम को आपने धारण कर रक्खा है, उसमें रहते हुए किसी भी स्त्री को विकार-दृष्टि से देखना घोर पाप है। जिस शरीर की सुन्दरता को देखकर आप कामान्ध हुए है, वह शरीर हड्डी, मांस, रक्त आदि गन्दी चीजों का पुतला होने के सिवा और क्या है ? जरा सोचो तो सही। फिर पूर्वाश्रम मे भी (सासारिक दृष्टि से) आपके वडे भाई की पत्नी होने के कारण आपके लिए मैं माता के

समान हूँ। अतएव अपने मन से काम-विकार को एक दम निकालकर आप अपने चित्त को पवित्र बनायें। यह निश्चय जानें कि न केवल मेरी ही ओर प्रत्युत् किसी भी स्त्री पर कुदृष्टि डालने से आपको नरक-वास करना होगा।"

सती राजीमती की बोध-प्रद बातें सुनकर रथनेमि को अपने सन्यास-धर्म का ज्ञान हुआ और यह सोचकर वह बड़ा पश्चात्ताप करने लगा कि क्षणिक काम-विकार के वश होकर वह इतना बड़ा पाप करने को तैयार हुआ था। फिर तो वह राजीमती के चरणों मे गिर पड़ा, और बार-बार अपने पाप-कर्म के लिए उससे क्षमा-याचना की।

इस प्रकार सती राजीमती ने न केवल अपनी सतीत्व-रक्षा ही की, प्रत्युत् कामान्ध देवर रथनेमि को भी अपने सदुपदेश से कुपथ पर जाते हुए रोक लिया। निश्चय ही ऐसी सती सदा हमारे आदर की पात्र रहेगी और रहनी चाहिए।

८

श्रीदेवी

श्रीदेवी श्रीपुर नरेश श्रीधर की रानी थी। यह बड़ी स्वरुपवान थी। धार्मिक और सासारिक ज्ञान का इसने अच्छा अभ्यास किया था। इसलिए विनय, आचार-विचार, नीति और स्त्री-धर्म आदि में यह प्रवीण थी। इसके गुणों के कारण राजा श्रीधर इससे बड़ा प्रेम करता था और इसके सम्पर्क में रहकर अपना जीवन सफल करता था।

एक बार श्रीदेवी के साथ राजा श्रीधर उद्यान मे क्रीड़ा कर रहा था। कमलकेतु नामक गन्धर्व उधर घूमने के लिए आया था, वह श्रीदेवी का सौन्दर्य देख उसपर मोहित हो गया। तब माया से अदृश्य हो, वह श्रीदेवी को हरण करके अपने घर लेगया। वहाँ जाकर कामी कमलकेतु ने उससे सम्भोग के लिए कहा। दुराचार की बात सुनते ही श्रीदेवी ने अपने कान बन्द कर लिये और कहा—

"भाई कमलकेतु! ऐसी गन्दी बात न कर।" जरा अपने मन मे विचार कर। जो पुरुप अपनी विवाहित स्त्री के होते परस्त्री-गमन करता है वह उस कौए के समान है, जो जल से भरे हुए सरोवर को छोड़ कर घडे से जल पीने का प्रयत्न करता है। फिर परस्त्री-गमन

ऐसा पाप है, जिसके कारण नरक मे जाना पडता है। इसलिए तू ऐसी दुराशा करके अपनी मानव-आत्मा को अधोगति मे क्यों डालता है ?

"फिर, कमलकेतु ! शील का प्रभाव क्या तूने नही सुना ? याद रख, शील स्वर्गीय सुखों का द्वार है। शीलधारी, ब्रह्मचारी पुरुष को विमानवासी देवता, ज्योतिषी देवता, भुवनपति देवता, वृक्ष-निवासी यक्ष, राक्षस और व्यन्तर जाति के देवता सब नमस्कार करते है।"

श्रीदेवी के ऐसे उद्बोधन युक्त वचनों से कमलकेतु के ज्ञान जागृत हो गया। अतः उसने अपना दुष्ट विचार छोड दिया और पश्चात्ताप करता हुआ कहने लगा—"बहन ! मेरा अपराध क्षमा कर। तूने मेरी आत्मा को अधोगति मे पडने से बचाया है। तू सच्ची सती है।"

यह कह कर कमलकेतु श्रीदेवी को वापस श्रीपुर पहुंचा आया। उसे वापस आई देख राजा श्रीधर आनन्द और आश्चर्य से मुग्ध हो गया। उसके गायब हो जाने पर जहाँ ग्लानि और दुःख से उसका हृदय भर रहा था, वहाँ उसके लौट आने पर हर्ष का वारा पार न रहा। पश्चात श्रीदेवी ने कमलकेतु की सारी हकीकत सुनाई। उसे सुनकर सबको बडा सन्तोष हुआ।

इसके बाद एक और आश्चर्यप्रद घटना हुई। श्रीदेवी अकेली अपने निवासस्थान मे रहकर धर्म तथा नीति की पुस्तकें पढती हुई, उनमेंसे शिक्षा प्राप्तकर, अत्यानन्द को प्राप्त हो रही थी। अचानक, अदृश्य होकर कोई देवता उसके रहने की जगह आया। सती उसे देखकर हैरान रह गई।

देवता ने श्रीदेवी से कहा—"सुन्दरी ! मैं तुझसे सभोग करना चाहता हूँ। यदि तू दिव्य सुख की इच्छा रखती हो, तो मुझसे प्रेम कर।"

श्रीदेवी ने कहा—"देव ! तुम-जैसे देवता के लिए मनुष्य-लोक की स्त्री के साथ सम्भोग की इच्छा करना अपनी जाति के विरुद्ध और अवाञ्छनीय है। फिर मैं तो पतिव्रत स्त्री हूँ। प्राण जाते हों तो भी, मैं तो पति के सिवा और किसी पुरुष की इच्छा नहीं करूँगी।"

श्रीदेवी के ऐसे दृढ़ वचन सुनकर देवता प्रसन्न हो गया, और श्रीदेवी से क्षमा माँग कर उसने कहा—"श्राविका-रत्न तू धन्य है। सचमुच, तू महासती है।"

यह कहकर, श्रीदेवी के सतीत्व की परीक्षा करके, देवता अपने स्थान को चला गया।

इसी प्रकार अपनी सारी जिन्दगी श्रीदेवी ने सती-धर्म का पालन किया और सती-धर्म पालन करते हुए ही अन्त मे मरकर स्वर्ग गई।

महासती श्रीदेवी का जीवन सती-धर्म के लिए प्रख्यात है। अपने अल्प-जीवन मे उसने स्त्री-शिक्षा की सुगन्धि अच्छी तरह फैलाई थी। स्त्री-शिक्षा का कितना उत्तम परिणाम होता है, शिक्षा-प्राप्त, स्त्रिया प्राणों की बाजी लगाकर भी अपने सती-धर्म का पालन करने मे कैसे समर्थ हो सकती है, यह हम उसके जीवन पर से जान सकते है इसीलिए श्रीदेवी के सती-धर्म का इतना महत्व माना जाता है कि जैन सती-मण्डल मे उस की गिनती है; और अपने नित्य-कार्य करते समय अभी भी जैनी लोग उसका यशोगान करते है,

---

६

देवता से सतीत्व-रक्षा करनेवाली

ज्येष्ठा

सती ज्येष्ठा जैनियों के चौबीसवें तीर्थंकर महात्मा श्री महावीर स्वामी के भाई नन्दिवर्धन की पत्नी थी। कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ के यहाँ इसका जन्म हुआ था, और त्रिशला इसकी माता का नाम था।

ज्येष्ठा बहुत सुन्दर थी बाल्यावस्था से ही ऊँचे दर्जे की शिक्षा देकर, माता-पिता ने उसे सदाचारी और विवेकी बनाया था। तत्कालीन राजकुमारों में बहुत कुशल माने जानेवाले कुमार नन्दिवर्धन के साथ राजा सिद्धार्थ ने उसका विवाह किया। नन्दिवर्धन जैसा योग्य पति प्राप्त होने से ज्येष्ठा का सांसारिक जीवन बड़े सुखपूर्वक व्यतीत हुआ। रात-दिन पति और सास-ससुर की सेवा तथा धर्मानुष्ठान करने में वह अपना समय विताती थी, और अपने सद्गुणों एवं अनन्य प्रेम से पति के ऊपर उसने सम्पूर्ण अधिकार जमा रक्खा था। नन्दिवर्धन उसे अपने कुटुम्ब की लक्ष्मी के समान मानता था।

सती ज्येष्ठा के अप्रतिम सौन्दर्य और उसके अनन्य पति-प्रेम की ख्याति संसार में ही नहीं, स्वर्गलोक मे भी थी। एक बार देव-सभा

मे इन्द्रदेव ने उसकी बड़ी प्रशंसा की और कहा, वह ऐसी दृढ़ पतिव्रता है कि देवता भी उसे विचलित नहीं कर सकते।

इन्द्र के मुँह से ऐसी प्रशंसा सुनकर एक देवता के मन मे दुराग्रह का उदय हुआ और मन-ही-मन उसने कहा—'इस सती का सतीत्व नष्ट करूँ तभी मेरा नाम है।' इसी दुष्ट संकल्प को लेकर वह मर्त्य-लोक पहुँचा और एकाएक ज्येष्ठा को हरण करके ले गया। उसे एक भीषण बियाबान जंगल में ले जाकर खड़ी करदी और अपनी दिव्य शक्ति से वहाँ असंख्य हाथी, घोड़े, रत्न, पैदल सेना आदि उपस्थित कर दिये। फिर ज्येष्ठा से कहा—"सुन्दरी! देख, मैं राजा हूँ और यह सब मेरी सेना है। तू यहाँ एकदम अकेली है। यहाँ कोई तेरी रक्षा करे ऐसा कोई नहीं है। अतः चुपचाप तू मेरे साथ होले। मेरा वैभव अपार है, तू उस वैभव की स्वामिनी होगी, मैं तुझे अपने हृदय और गृह-राज्य की रानी बनाऊंगा तुझे सुख पहुंचाने मे मैं कोई कसर न रक्खूंगा।" परन्तु ज्येष्ठा सती थी, उसने इस कपटी देवता की बातों पर कान ही नहीं दिया। अपने कानों मे अंगुली ठूँसकर उसने कहा—"ओ अधममति पुरुष! तू तो क्या स्वयं इन्द्र स्वर्ग से उतरकर आवे तो भी मैं अपने पति के अलावा और किसी के साथ नहीं जाऊँगी। मेरे लिए तो मेरे पति ही तीनों लोकों मे सबसे श्रेष्ठ पुरुष है। अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी मैं तो अपने पतिव्रत-धर्म का पालन करूंगी। तीनों लोकों के वैभव को भी मैं पति-प्रेम के सामने धूल के समान समझती हूं।" लेकिन कामातुर देवता ने उसकी बातों पर कोई ध्यान न दिया और अपने दुष्ट उद्देश की सिद्धि के

लिए उसके साथ बलात्कार करने के लिए वह आगे बढा। अब तो सती से न रहा गया, उसने चण्डी-रूप धारण कर महाक्रोधावेश मे कहा—"खबरदार! एक कदम भी आगे न बढ, न अपनी दुष्ट भावना को ही व्यक्त कर। दुष्ट! याद रख, जो तूने बलात्कार का प्रयत्न किया तो मैं आत्म हत्या कर लूँगी; और उसका पाप तेरे ही सिर होगा।" ज्येष्ठा की ऐसी दृढ़ता देखकर देवता वहीं ठिठक गया वह समझ गया कि यहाँ मेरी दाल नहीं गलने की। अतः चुपचाप स्वर्ग को लौट गया।

कुमार नन्दिवर्धन को जब इस बात बात का पता लगा, तो उसके प्रति उसके हृदय का सद्भाव और भी सहस्रगुण बढ गया। पति-पत्नी दोनों ने प्रेमपूर्वक गृहस्थाश्रम मे रहते हुए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थ का साधन किया। आखिरी दिनों मे, पति की आज्ञा से, ज्येष्ठा ने अपने देवर से जैनधर्म की दीक्षा ली, और संन्यासिनी होकर स्त्रियो को उपदेश करने मे अपनी जिन्दगी बिताई; जिससे प्रभावित होकर अनेक स्त्रियाँ सन्मार्ग पर अग्रसर हुई थीं।

ऋषभदेव-पुत्री (१)

ब्राह्मी

ब्राह्मी जैन महात्मा आदिनाथ प्रभु श्रीऋषभदेव की पुत्री थी। अयोध्या मे इसका जन्म हुआ था और सुमंगला इसकी माता का नाम था। अपने माता-पिता से ब्राह्मी को बहुत-सी शिक्षा मिली थी, बुद्धि इसकी बडी तीव्र थी। अठारह प्रकार की लिपियों का इसे ज्ञान था, और लिखावट भी इसकी बहुत सुन्दर थी। यही नहीं बल्कि चित्रकारी मे भी यह बड़ी प्रवीण थी। वर्तमान काल की भाति उस समय हरेक लडकी के लिए यह जरूरी न था कि वह विवाह करे ही, इसलिए अपने पिता श्री ऋषभदेव की आज्ञा मे ब्राह्मी यावज्जीवन ब्रह्मचारिणी रही थी।

ऋषभदेव ने अपनी पिछली अवस्था मे घर-गृहस्थी का कारोबार पुत्रों के सुपुर्द करके दीक्षा लेली थी। पिता के सदुपदेश और अच्छी-अच्छी पुस्तकों के अध्ययन से ब्राह्मी का चित्त भी संसार से उठ गया था। ध्यान और शास्त्राध्ययन मे ही वह अपना काल-यापन करती थी। आखिर अपने पिता ऋषभदेव का हृदयगुणी उपदेश सुनकर, एक दिन उसने भी दीक्षा लेली।

दीक्षा लिये बाद ब्राह्मी ने संन्यासियों के धर्म का यथा रीति पालन किया और अपना सारा जीवन अन्य स्त्रियों को उपदेश एवं व्यावहारिक ज्ञान के अलावा गृह-धर्म एवं पतिव्रत धर्म का ज्ञान देने में व्यतीत किया।

अनेक वर्षों तक तपस्या करने के बाद यह मोक्ष को प्राप्त हुई थी।

११

ऋषभदेव-पुत्री (२)

सुन्दरी

सुन्दरी भी जैन महात्मा आदिनाथ श्री ऋषभदेव की ही पुत्री थी, सती ब्राह्मी, जिसका हम अभी वर्णन कर चुके हैं, इसकी सौतेली बहन होती थी। इसकी माता का नाम सुनन्दा था।

इसकी बुद्धि भी बड़ी तीव्र थी। इसके पिता ने, इसे गणितविद्या की अच्छी शिक्षा दी थी। गणित मे इसकी पारदर्शिता देखकर उस समय के बड़े-बड़े विद्वान भी चकित रह जाते थे।

यह जैसी बुद्धिमती थी, वैसी ही सुशील और परोपकारिणी भी थी। इसका सौन्दर्य अनुपम था। विद्याभ्यास और अपनी कम पढ़ी-लिखी बहनों को सद्विद्या की शिक्षा देने मे यह अपना समय बिताती थी।

बादमे इसने भी अपने पिता से जैन-धर्म की दीक्षा लेली थी। दीक्षा लेकर तपस्या के द्वारा इसने अपने शुद्ध चरित्र को और भी उज्ज्वल बना लिया था। अपने जीवन मे इसने अनेक सत्कर्म किये थे। नगर-नगर और गांव-गांव घूम कर इसने देश की अपनी बहनों को खूब उपदेश किया था। इसीलिए आजतक भी जैनियों में आदर और भक्ति के साथ इसका चरित्र गाया जाता है।

१२

कामान्ध-पथ-प्रदर्शिका

रति-सुन्दरी

रति सुन्दरी का जन्म साकेतपुर मे राजा केसरी के घर रानी कमलसुन्दरी के उदर से हुआ था। रानी कमलसुन्दरी एक सद्‌गुणी, पतिव्रता और पढी-लिखी स्त्री थी। अपनी कन्या को भी उसने सुशिक्षा देकर इन सब गुणों से विभूपित कर दिया था। फलतः राजकुमारी रतिसुन्दरी सदा धर्म-कार्य और धर्म-ग्रन्थों के अभ्यास मे ही तल्लीन रहती थी।

जैनमार्गी संबंधियों मे उसने जैनधर्म के सिद्धान्तो का ज्ञान प्राप्त किया था और उनके उपदेश मे पातिव्रत-धर्म की महिमा उसके कोमल हृदय मे भली-भाँति बद्धमूल हो गई थी।

वयः प्राप्त होने पर माता-पिता ने रतिसुन्दरी की सहमति से नन्दननगर के चन्द्रराजा के साथ उसका विवाह कर दिया। रति-सुन्दरी का अद्‌भुत सौन्दर्य, लावण्य और विद्वत्ता देखकर राजा चन्द्र उसपर मुग्ध हो गया, और ऐसी सती तथा विदुषी स्त्री के समागम से अपने हृदय को भी धार्मिक बनाकर सम्पूर्ण सुख-वैभव मे अपने दिन व्यतीत करने लगा।

कुरुदेश का राजा महेन्द्रसिह इन दिनों बडा बलवान और पराक्रमी माना जाता था। उसके दरबार मे जाकर किसी ने रतिसुन्दरी के सौन्दर्य की बडी प्रशंसा की और कहा कि ऐसी सुन्दर स्त्री आजकल भारतवर्ष के किसी भी राजा के अन्तःपुर मे नहीं है।

रतिसुन्दरी के रूप-सौन्दर्य की इतनी अधिक प्रशंसा सुनकर राजा महेन्द्रसिह काम विह्वल हो गया, और रतिसुन्दरी को अपनी पत्नी बनाने का संकल्प करके, एक दूत को इसके लिए उसने राजा चन्द्र के पास भेजा। नन्दननगर मे जाकर उसने राजा चन्द्र को अपने मालिक का सन्देश सुनाया। और रानी रतिसुन्दरी को दे देने के लिए अनेक प्रकार से उसे समझाया। राजाचन्द्र को इसपर बड़ा रोष आया। उसने इनका तिरस्कार करके वहाँ से निकलवा दिया, यही नहीं बल्कि परायी स्त्री को माँगने का अविवेक दिखाने के लिए उसके राजा महेन्द्रसिंह के लिए भी उसके मुह से बड़े तीखे और कडवे उद्गार निकले।

दूत ने यह सब बात जाकर महेन्द्रसिंह से कही। तब क्रोधावेश मे राजा महेन्द्रसिंह ने बडी भारी सेना के साथ राजाचन्द्र के राज्य पर चढ़ाई करदी। राजाचन्द्र भी लडाई के लिए आ डटा। फलतः दोनो पक्षों के बीच घमासान युद्ध हुआ। परन्तु राजा महेन्द्रसिह की सेना बहुत ज्यादा थी, इसलिए युद्ध में राजा चन्द्र की पराजय हुई, और राजा महेन्द्रसिंह ने उसे जिन्दा पकडकर कैद कर लिया। राजा का पकडा जाना था कि उसकी सेना भी अस्तव्यस्त हो गई। तब राजा महेन्द्रसिंह राजा चन्द्र के महल में जाकर रानी रतिसुन्दरी को पकड़

लाया—और, उसको अपने साथ अपने राज्य में ले जाकर, वाद मे राजा चन्द्र को उसने छोड़ दिया।

रानी रतिसुन्दरी इस प्रकार अचानक पति से विछुड़ पड़ने से वहुत दुःखी हुई। उसका मन तो रात-दिन पति मे ही लगा रहता। चाहे जो हो फिर भी अपनी सतीत्व-रक्षा करने का उसने संकल्प कर रक्खा था।

राजा महेन्द्रसिंह ने एक भव्य राजमहल मे रतिसुन्दरी को रक्खा। एक दिन कामातुर राजा रतिसुन्दरी के महल मे पहुंचा और वड़ा प्रेम दरसाता हुआ कहने लगा—"ओ, कोमलाङ्ग सुन्दरी! यह तो तुझे मालूम ही है कि इस युद्ध का इतना परिश्रम मैंने किसके लिए किया था। ईश्वर-कृपा से आज मेरा परिश्रम सफल हुआ है, और तू मुझे मिल गई है। अब तू मेरी रानी वन और मेरी इच्छा पूर्ण करके अपने और मेरे जीवन को सफल कर।

राजा की यह वात सुनकर मन-ही-मन रतिसुन्दरी को उसके प्रति वड़ा तिरस्कार हुआ, और जिस सौन्दर्य के कारण यह स्थिति पैदा हुई, अपने उस सौन्दर्य को वह मन-ही-मन धिक्कारने लगी। आत्म-हत्या करने का उसने विचार किया, परन्तु फिर खयाल आया कि ऐसा करने से तो फिर इस जन्म मे पति से मिलने की कोई आशा ही नहीं रहेगी, अतः इसके वजाय कोई ऐसा उपाय खोजना चाहिए कि मेरा सतीत्व भी अक्षुण्ण रहे और भविष्य मे किसी दिन पतिदेव के दर्शन भी हो सकें। यह सोचकर दूरन्देश रानी ने एक उपाय ढूँढ निकाला। वह यह कि अपने अन्तर का शोक और तिर-

स्कार अन्दर ही दवाकर हँसते हुए उसने राजा महेन्द्रसिंह से कहा— "आप मुझपर इतने अधिक प्रसन्न हुए हैं, तो मैं भी आपसे कुछ माँग लेना चाहती हू। क्या आप देंगे ?"

अब तो राजा के हर्ष का क्या कहना था। वड़े उत्साह के साथ उसने कहा—"सुन्दरी! तुझे जो-कुछ चाहिए, खुशी से कह। भला इस संसार में ऐसी क्या चीज है, जो मैं तुझे न दे सकूँ? मैं तो अपना सारा राज्य तुझपर न्योछावर करने को तैयार हूँ। अतः तेरी जो भी इच्छा हो, माँग ले।"

रतिसुन्दरी ने कहा—"महाराजा मेरी इच्छा है कि अभी आप मुझसे वोल-चाल का ही सम्वन्ध रक्खें। चार महीने तक अभी मैं ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहती हू, इसलिए इन चार महीने आप मेरे ब्रह्मचर्य का भंग न करें।"

कामान्ध राजा को चार महीने का विलम्व लगा तो वहुत असह्य, परन्तु यह सोचकर इस वात को स्वीकार कर लिया कि ज़रा-सी वात के लिए रतिसुन्दरी को अप्रसन्न नहीं करना चाहिए।

रतिसुन्दरी ने उसी दिन से जैन शास्त्रों में वर्णित 'आम्विल तप' का आरम्भ कर दिया। सुन्दर वस्त्राभूषणों का त्याग करके वह कठोर तपस्या में प्रवृत्त हो गई, और तपस्या के कारण दिनों-दिन कमज़ोर होने लगी।

एक दिन राजा महेन्द्रसिंह उसके पास गया। उसे इतनी दुवली-पतली देखकर वह आश्चर्य में पड़ गया। प्रेमपूर्वक उसने हाल-चाल पूछे। जवाव मे रतिसुन्दरी ने कहा—"मुझे तो अव संसार से वैराग्य

हो गया है। चार महीने तक मुझे आम्बिल-व्रत का पालन करना है। इस बीच आप मेरे ब्रह्मचर्य का भंग करेंगे तो हम दोनों को नरक जाना पड़ेगा।

रतिसुन्दरी को इस प्रकार वैराग्य उत्पन्न हुआ देखकर राजा ने वडा आश्चर्य प्रकट किया, तव रानी रतिसुन्दरी ने उसे ज्ञान मार्ग का वहुत-सा उपदेश देते हुए समझाया, कि "जिस शरीर की सुन्दरता पर आप मोहित हो गए है, वह शरीर तो मल-मूत्रादि ऐसी चीजों से भरा हुआ है जो वडी गन्दी और दुर्गन्ध-युक्त है। उसपर मोह रखना तो मूर्खता है।" परन्तु कामवश अन्धे वने हुए राजा महेन्द्रसिंह पर इस उपदेश का कोई असर नहीं हुआ। वह तो अपनी स्वीकार की हुई चार महीने की अवधि पूरी हो जाने के वाद रतिसुन्दरी के साथ सम्भोग करने के अपने निश्चय पर ही दृढ़ रहा।

धीरे-धीरे चार महीनों की अवधि पूरी होने लगी। रतिसुन्दरी ने देखा कि राजा की मति तो जरा भी नहीं वदली है, अव तो यह जरूर मेरा सतीत्व नष्ट करके रहेगा। तव पूर्ण एकाग्र मन से उसने शासन-देवी का स्मरण किया, और ऐसे संकट के समय अपनी सतीत्व-रक्षा की उनसे याचना की। रतिसुन्दरी की पति-भक्ति का खयाल कर, उसकी सतीत्व-रक्षा के लिए, देवी ने उसका सव सौन्दर्य नष्ट कर दिया। अव तो सुन्दरी रतिसुन्दरी वड़ी वदसूरत वन गई और कोढ़ तथा रक्त पित्त आदि गन्दी वीमारियों से जकड़ गई। फलतः दूसरे दिन राजा जव उसके पास आया तो उसे ऐसी गन्दी वीमारियों से ग्रस्त और वदशक्ल देखकर चकित रह गया। ऐसी वदसूरत स्त्री का

हरण करके लाने के लिए वह पछताने लगा, और धीरे-धीरे उसके मन में भी वैराग्य का संचार हुआ। तब उसने रतिसुन्दरी को राजा चन्द्र के घर भिजवा दिया।

पति के पास पहुँचते ही देवी के आशीर्वाद से रतिसुन्दरी पुनः पहले जैसी ही सुन्दर बन गई। राजा चन्द्र उसकी दृढता और पति-भक्ति देखकर बडा खुश हुआ। इसके बाद अनेक वर्षों तक दोनों ने पूर्ण सुख मे दाम्पत्य-जीवन व्यतीत किया और रतिसुन्दरी की कीर्ति चारों ओर फैल गई।

१३

परीक्षित सती

नन्दयन्ती

सती नन्दयन्ती सोपारपुर मे पैदा हुई थी। नागदत्त की कन्या और पोतनपुर के वणिक सागरपोत के पुत्र समुद्रदत्त की पत्नी थी। बाल्यावस्था से ही इसके माता-पिता ने इसे अच्छी शिक्षा दी थी, इसलिए इसका दाम्पत्य-जीवन सुख पूर्ण था।

समुद्रदत्त भी विद्वान और व्यापार-व्यवसाय मे कुशल युवक था। एक दिन उसने सोचा—"मैं अपने पिता की ही कमाई पर कबतक मौज किया करूँगा? अब तो मैं बड़ा हो गया हूँ, अतः अबतो मुझे खुद ही कुछ धन्धा करना चाहिए।" यह सोचकर उसने अपने पिता से व्यापार के लिए परदेश जाने की आज्ञा मांगी, परन्तु यह अपने पिता का एकलौता बेटा था, इसलिए स्नेही पिता ने कहा—"बेटा! अपने यहाँ धन की क्या कमी है, जो तू कमाई के लिए परदेश जाता है? तेरे वैभव के लिए तो घर-बैठे ही बहुतेरी धन-सामग्री उपलब्ध है।" परन्तु समुद्रदत्त के मन मे यह बात बैठी नहीं। उसने अपने पिता के अनेक प्रकार समझाया और अनेक इस प्रकार की दलीलें दीं, कि 'पुत्र को तो स्वावलम्बी होकर खुद ही धनोपार्जन करना चाहिए। परदेश मे जाने से अनुभव और कुशलता बढ़ती है, जबकि घर

बैठे-बैठे मन संकीर्ण हो जाता है।' परन्तु पुत्रवत्सल पिता ने किसी भी प्रकार जाने की स्वीकृति नहीं दी। आखिर समुद्रदत्त ने चुपचाप भाग जाने का निश्चय किया।

एक दिन आधीरात को, जब कि सब जने गहरी नींद सोरहे थे, वह घर से निकल कर चल दिया। थोड़ी दूर जाने के बाद उसे ख़याल आया, कि "मैं माता-पिता से बग़ैर मिले आया सो तो ठीक हुआ, पर यह मैंने ठीक नहीं किया कि अपनी प्यारी पत्नी से भी चलते वक्त मिलकर नहीं आया।" यह सोचकर वह वापस घर आया और बाहर खड़ा-खड़ा किवाडों के छेद मे से नन्दयन्ती को झाँकने लगा। उसने देखा कि नन्दयन्ती इस समय जाग उठी थी और अपने पति को न देख चौधार आँसू बहा रही थी। अन्त में पति का वियोग असह्य होने के कारण वह अपने गले में फाँसी लगाकर मरने लगी। तब दरवाजा खोलकर समुद्रत्त अन्दर गया और प्रेमपूर्वक पत्नी का आलिंगन करके उसे अपने परदेश जाने का कारण बताया। नन्दयन्ती समझदार स्त्री थी, अतः पति के श्रेय में ही अपना श्रेय मानकर विरह-वेदना को उसने मन-ही-मन दबाया और खुशी के साथ पति को परदेश जाने की स्वीकृति दी। तब समुद्रदत्त निश्चिन्तता के साथ परदेश चल दिया।

समुद्रदत्त चला गया। इसके तीसरे महीने नन्दयन्ती के गर्भ के चिन्ह प्रकट हुए। इसपर सास-ससुर सोचने लगे कि लडका तो परदेश गया है और बहू गर्भवती हुई है, इसमें कुछ-न-कुछ गड़बड़ जरूर है। निर्दोष नन्दयन्ती के चरित्र की शुद्धता पर उन्हे शंका हुई,

अतः निष्करुण नामक अपने एक सेवक के द्वारा नन्दयन्ती को जंगल भिजवा दिया। जंगल मे पहुँचकर जब नन्दयन्ती को अपने घर से निकाले जाने का कारण मालूम पड़ा, तो उसे बड़ा दुःख हुआ और आवेश में उच्चस्वर से कहने लगी—"मैं निर्दोप हूं। अपने स्वामी के अलावा, और सब मेरे लिए भाई और वाप के समान हैं।" परन्तु निर्दयी नौकर उसे जंगल मे छोड़ ही गया।

इसी समय अचानक मृगपुर का राजा वहाँ आया। नन्दयन्ती का विलाप सुनकर वह उसके पास गया और मीठे शब्दों में उसके दुःख का सव हाल पूछा। उसकी वातें सुनकर राजा को उसपर वड़ी दया आई। अतः नन्दयन्ती को ढारस वंधा, उसे अपनी वहन के समान समझकर, वह अपने साथ मृगपुर ले गया। वहाँ राजा की इच्छानुसार वह खूब दान-पुण्य करती, व्रत-नियमों का परिपालन करती और रात-दिन पति-स्मरण किया करती थी। यथासमय उसने एक पुत्र प्रसव किया और राजा अपने पुत्र की तरह उसका पालन करने लगा।

कुछ वर्ष वाद नन्दयन्ती का पति समुद्रदत्त व्यापार मे खूब धन अर्जन करके वापस घर आया। घर आकर उसने अपनी पत्नी के इस प्रकार घर से निकाले जाने की खवर सुनी, तो उसे वड़ा दुःख हुआ। माता-पिता से उसने कहा, कि "आपने वडी भारी भूल की है। नन्दयन्ती विलकुल निर्दोप है। उसे जो गर्भ रहा, वह मुझसे ही था।" इसपर सवको वड़ा पश्चात्ताप हुआ, और पत्नी-वियोग से व्याकुल समुद्रदत्त उसकी खोज मे निकला। घूमता-फिरता अन्त में वह उसी नगर मे जा पहुँचा, जहाँ नन्दयन्ती थी। नन्दयन्ती राजा की आज्ञा

से वहाँ दान-पुण्य करती थी। उसने एक बड़ा सदाव्रत खोला था; और खुद भी उसीके पास एक मकान मे रहकर गरीब दुखियों का दुःख-निवारण करती थी।

संयोगवश समुद्रदत्त भी जब इस नगर मे आया तो बहुत भूखा-प्यासा था। अतः उसने भी उस अन्न-क्षेत्र में जाकर अपनी क्षुधा निवारण की। उस समय दूर से उसने नन्दयन्ती को पहचान तो लिया, पर उसके सतीत्व की परीक्षा करके यह जान लेने का उसने निश्चय किया कि इतने दिन तक अकेली रहने से उसमे कोई अन्तर तो नहीं पड़ गया है। अतः गाँव की एक दूती को इसके लिए उसने नन्दयन्ती के पास भेजा। दूती ने जाकर नन्दयन्ती से कहा—"सुन्दरी! तू अपना जीवन इस प्रकार क्यों बिता रही है? देवकुमार-जैसा एक वणिक-पुत्र यहाँ आया है, वह तुझपर बहुत मुग्ध हो गया है। वह बहुत धनवान् है। अगर तू चाहे, तो उसके साथ मैं तेरा मेलजोल करादूँ।" पर नन्दयन्ती तो सती थी, वह उसकी बातों में न आई। उसने कहा—"मूर्ख स्त्री! आज तो तूने कहा सो कहा, पर आगे से ऐसी बात मेरे सामने कभी न करना। सती का तेज कैसा होता है, यह अभी तुझे मालूम नहीं। याद रख, तू ज्यादा कुछ कहेगी तो मैं आत्म-हत्या कर लूँगी और उसका पाप तेरे सिर होगा।"

दूती ने वापस आकर समुद्रदत्त से सब हाल कहा। समुद्रदत्त अपनी पत्नी का पातिव्रत देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और अपने असली वेश मे जाकर नन्दयन्ती से मिला। नन्दयन्ती ने पति को आते देखा, तो जल्दी से आगे जाकर उससे मिली। कितनी ही देरतक तो

खुशी के मारे उनके मुँह से कोई बात ही न निकली। दोनों खामोश रहे और आकस्मिक सम्मिलन के कारण उनकी आँखों से आनन्दाश्रु निकलने लगे। इसके बाद बहुत देर तक अपने-अपने सुख-दुःख की बातें करके उन्होंने अपने मनों को शान्त किया।

मृगपुर के राजा को यह शुभ समाचार मिला तो वह भी बहुत प्रसन्न हुआ, और बड़ी धूमधाम के साथ उसने नन्दयन्ती तथा उसके पति समुद्रदत्त को विदा किया। पश्चात् अनेक वर्ष तक सुखपूर्वक नन्दयन्ती और समुद्रदत्त का गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत हुआ।

नन्दयन्ती को इतने समय तक पति-वियोग का जो दारुण दुःख सहना पड़ा, जैन शास्त्रकारों के कथनानुसार, इसका कारण उसके द्वारा अपने पूर्वजन्म मे भिक्षा माँगने आये हुए किसी साधु की उपेक्षा होना था।

१४

चमत्कारिणी सती

रोहिणी

सती रोहिणी बहुत सदाचारी और पतिभक्ता थी। पाटलिपुत्र के धनावह नामक एक सेठ से उसका विवाह हुआ था, जो एक साहसी व्यापारी था।

एक बार व्यापार के लिए धनावह दूर के किसी देश गया। उसकी अनुपस्थिति मे सती रोहिणी सादगी से रहती और रात-दिन उसका ध्यान करते हुए पातिव्रत-धर्म का पालन करती थी।

गर्मी के दिन थे। एक दिन रोहिणी अपने घर के छज्जे मे बैठी हुई थी। पाटलिपुत्र का राजा नन्द क्रीड़ा के लिए अपने उपवन मे जा रहा था। संयोगवश छज्जे में बैठी हुई रोहिणी पर उसकी नजर पडी। राजा नन्द और बातों मे तो बडा अच्छा था, पर था बड़ा कामान्ध। रोहिणी का अपूर्व सौन्दर्य देखकर वह अत्यन्त काम-विह्वल हो गया। उसका मन रोहिणी के साथ क्रीडा करने के लिए छटपटाने लगा। फलतः घर जाकर उसने अपनी एक दूती को उसके पास भेजा। दूती ने अपने स्वभावानुसार बहुत-सी मीठी-मीठी बातें कहकर उसे ललचाया। परन्तु रोहिणी जाल मे फंसनेवाली स्त्री न थी। वह समझ-

गई कि राजा मेरा सतीत्व नष्ट करना चाहता है। पर, उसने सोचा, अभी जो मैं इन्कार कर दूंगी तो यह जबरदस्ती मुझे उड़ा ले जायगा; इसलिए कोई दूसरी तरकीव करनी चाहिए। यह सोचकर उसने दूती से कहा—"राजा से कहना कि उन्हें मुझसे मिलना हो तो रात केसमय छिपकर मेरे घर आवें।" यह कह कर उसने दूती के हाथ भेजी हुई राजा की भेंट को भी स्वीकार कर लिया। दूती ने जव यह सव वात जाकर राजा से कही तो राजा वड़ा प्रसन्न हुआ और रात को सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर वह रोहिणी के घर गया।

रोहिणी ने राजा को आदर के साथ वैठाया और आप जमीन की ओर नजर करके उसके सामने वैठी। फिर अपनी सखियों से राजा के लिए स्वादिष्ट भोजन वनवाये और एक दासी से वहुमूल्य थाल मे फल-फूलादि लाने को कहा। राजा उन फलों को खाकर वड़ा प्रसन्न हुआ। इसके वाद रोहिणी उसे महल के ऊपर की चन्द्रशाला मे ले गई। वहाँ चन्द्रमा की शीतल ज्योत्सना में राजा की आँख लग गई। कुछ देर वाद जव उसकी आँख खुली तो उसने पीने को पानी माँगा। रोहिणी ने पानी लाकर पिलाया और तरह-तरह की चीजों का भोजन कराया। भोजनोपरान्त राजा ने पूछा—"भोजन में कई चीजें नो स्वादिष्ट है और कई फीकी हैं, इसकी क्या वजह है ?" रोहिणी ने कहा—"यह वात आपको समझनी चाहिए। जैसे इन-में स्वादिष्ट और वेस्वाद हैं वैसे ही स्त्रियाँ भी सरस और नीरस होती हैं। सुन्दर स्त्री को देखकर पुरुप भ्रम में पड जाता है, परन्तु अन्त में वह (सुन्दर स्त्री) भी नीरस ही निकलती है। यह कामातुर

पुरुषों की मूर्खता है जो सुन्दर स्त्रियों को देखकर फिसल पडते हैं। फिर, महाराज। आप तो सारी प्रजा के पिता है। राजा के लिए अनीति के मार्ग पर चलना वडा भारी कलंक है। अतः आपको तो इस मार्ग का अवलम्बन हर्गिज न करना चाहिए।"

रोहिणी के मुँह से ऐसी बातें सुनकर राजा का मन बदल गया। अपनी बुरी नीयत के लिए उसे वड़ा पश्चात्ताप होने लगा। खड़े होकर उसने वडी विनय के साथ रोहिणी से क्षमा माँगी और उसकी प्रशंसा करता हुआ अपने महल चला गया।

कुछ कालोपरान्त रोहिणी का पति सेठ धनावह परदेश से खूब धन कमाकर अपने देश लौट आया। उस समय रोहिणी ने यह सारा हाल उससे कहा। सेठ के मन मे इससे रोहिणी के प्रति सन्देह का भाव पैदा हो गया। उसने सोचा कि मेरी अनुपस्थिति मे इसने जरूर राजा से सम्भोग किया होगा। इस व्यर्थ सन्देह को लेकर वह रोहणी का त्याग करने की बात सोचने लगा।

इतने में एकाएक आकाश मे वादल घिर आये, और आंधी-तूफान के साथ मूसलधार वर्षा होने लगी। वर्षा से नदी-नालों मे बाढ आ गई और शहर की ओर उनका पानी आने लगा। पाटलिपुत्र के निकट-वर्ती नदी मे भी इस समय खूब बाढ आई और शहर मे पानी घुसने लगा। यहां तक कि सारा शहर जल-मग्न होने का समय उपस्थित हो गया। ऐसे संकट मे और कोई उपाय न देख राजा को सती रोहिणी का स्मरण हुआ। उसने उसको बुलवाया और कहा—"बहन। किसी तरह इस बाढ को रोक।" तब सती रोहिणी ने हाथ मे जल लेकर

कहा—"यदि इस जन्म मे मैं सच्ची पतिव्रता रही हूं, तो इस जल का वेग रुक जाय।"

सती के मुँह से ये शब्द निकलने थे कि नदी का पानी आगे बढ़ना बन्द हो गया, और सब नगरवासी उसके सतीत्व की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। तब सेठ धनावह के मन से भी पत्नी के चरित्र सम्बन्धी सन्देह निकल गया।

इसके बाद सती रोहिणी ने पति-सेवा, व्रत-उपवास, धर्मानुष्ठान, सत्संग और परोपकार मे अपना शेष जीवन व्यतीत किया।

पति-मोह-निवारिणी

नागिला

मगध के सुग्राम नामक गाव मे एक दम्पती रहती थी। पति का नाम आर्यवान राष्ट्रकूट था और पत्नी का रेवती। भवदत्त और भवदेव नाम के इनके दो पुत्र थे। भवदत्त ने अपनी युवावस्था मे ही जैनाचार्य सुस्थित से दीक्षा लेकर संन्यास ले लिया था, और इतनी अच्छी तरह उसने इस व्रत का पालन किया कि थोड़े ही समय मे वह आचार्य का अत्यन्त प्रिय शिष्य बन गया।

एक दिन भवदत्त वाले 'गच्छ' के एक साधु ने आचार्य से निवेदन किया—"आचार्य! मैं एक बार अपने सम्बन्धियों मे मिलने जाना चाहता हूँ। वहाँ मेरा एक छोटा भाई है, उसका मुझपर बहुत स्नेह है। मै उसके पास जाऊँगा तो मुझे देखकर वह भी जरूर संन्यास ले लेगा। अतः कृपया आप मुझे वहाँ जाने की आज्ञा दे दे।"

जगत् का उद्धार करने की इच्छा रखनेवाले आचार्य ने और भी कई शिष्यों को साथ करके उसे अपने भाई से मिलने जाने की आज्ञा दे दी।

आचार्य से आज्ञा पाकर शिष्य अपने पिता के घर गया। वहाँ उसके भाई के विवाह की तैयारियाँ हो रही थीं। बड़े समारोह से

विवाह का उत्सव हो रहा था। ऐसे अवसर पर वह वहाँ पहुँचा, पर उसका छोटा भाई तो विवाह के आनन्द में ऐसा निमग्न हो रहा था कि उसने इसकी कोई पूछ-ताछ ही नहीं की।

तब वह वापस अपने गुरु के पास गया और गुरु से अपने छोटे भाई के व्यवहार की बात कही। शिष्य के मुँह से सब हाल सुनकर भवदत्त को बड़ा रंज हुआ और उसने कहा—'ओह! तेरा छोटा भाई कितना कठोर है, कि घर पर होते हुए भी तुम-जैसे ऋषिव्रतधारी बड़े भाई की उसने बात भी न पूछी। क्या विवाह का आनन्द गुरु-भक्ति से भी श्रेष्ठ है, जो विवाह की खुशी मे वह तेरा भी सत्कार न कर सका ?"

भवदत्त की बात सुनकर शिष्य-मण्डली में से एक ने कहा—"भवदत्त जी। तुम बड़े विद्वान् पंडित माने जाते हो, परन्तु हम तो तुम्हारा सच्चा पाण्डित्य तब जानेंगे जब तुम अपने छोटे भाई को संन्यासी बना लोगे।"

भवदत्त ने कहा—"गुरुदेव मगध मे विहार करने जावें तो मैं तुम्हे यह कौतुक भी बताऊँगा।"

हिन्दू संन्यासियों की भाँति जैन श्रमण भी बहुत समय तक एक जगह नहीं रह सकते। धर्मोपदेश के लिए उन्हे जगह-जगह पर्यटन करना पडता है। पर्यटन करते-करते एक दिन आचार्य सुस्थित अपने शिष्यों के साथ मगध मे जा पहुंचे। तब उनके चरणों में दण्डवत करके भवभत्त ने कहा—"गुरुदेव! मेरे सगे-सम्बन्धी यहाँ से बहुत पास रहते हैं। अतः आप आज्ञा दें तो एक बार मैं उनसे मिल आऊँ।"

भवदत्त संयतेन्द्रिय था, इसलिए आचार्य ने उसे अकेले ही घर जाने की अनुमति दे दी, दूसरे शिष्यों को उसके साथ भेजने की जरूरत नहीं पडी। तब अपने छोटे भाई को संन्यासी बनाने के इरादे से वह अपने घर गया। वहाँ भी भवदत्त के पहुँचने से कुछ ही देर पहले उसके छोटे भाई भवदेव का नागदत्त की कन्या नागिला के साथ विवाह हुआ था। घर विवाहोपलक्ष्य मे आये हुए लोगों से खचाखच भरा था। बड़ी धूमधाम से विवाह के उत्सव हो रहे थे। भवदत्त को अचानक वहाँ आया देख सब सगे-सम्बन्धी प्रफुल्लित हो उठे, और विवाहोत्सव में और भी आनन्द मनाया जाने लगा। सबने भवदत्त के चरण धोकर चरणामृत की तरह उस पानी को पीया, और सब तरफ से लोग आ-आकर उसके चरण छूने लगे। मुनि भवदत्त ने उनसे कहा—"इस समय आप लोग विवाह के उत्सव-समारोह मे हैं, इसलिए अभी मैं कहीं और जाता हूँ। आप सबका कल्याण हो।" परन्तु सगे-सम्बन्धियों ने उसे नाना प्रकार का भोजन कराये बगैर न छोडा।

उसका भाई भवदेव इस समय अपने कुल की प्रथा के अनुसार अपनी नवोढ़ा पत्नी के चन्दन लगा रहा था। जूडे मे सुगन्धित फूल गूँथ कर और मस्तक पर कस्तूरी के फूल-पत्ते बनाकर वह अन्य अंगों पर लेप करने की तैयारी मे था, इतने मे अपने बड़े भाई मुनि भवदत्त के आगमन की उसे खबर मिली। भाई के आने का उसे बडा हर्ष हुआ और उससे मिलने की खुशी मे अपनी नवोढा को अर्धालंकृत ही छोडकर वह एकदम उठ खडा हुआ। नागिला की सखियों ने

कुल की इस प्रथा को इस प्रकार अधूरा छोडकर अधबीच मे ही जाने से उसे बहुतेरा रोका, पर भवदेव ने उनकी बात पर जरा भी ध्यान नहीं दिया। उसने कहा—"भाई सा० के दर्शन करके मैं अभी वापस आता हूँ।" इस प्रकार अपनी नवोढ़ा पत्नी को अर्धालंकृत छोडकर भवदेव अपने भाई भवदत्त के पास गया और साष्टाग प्रणाम करके उसके सन्मुख खडा होगया। भवदत्त उसके हाथ मे घी का बर्त्तन देकर घर से बाहर चल दिया। उसको जाते देख, उस बर्तन को स्वीकार करके, भवदेव भी बड़े भाई के पीछे-पीछे जाने को तैयार हुआ। यह देख और भी अनेक स्त्री-पुरुष भवदत्त के साथ हो लिये। भवदत्त ने किसी को ऐसा करने से मना नहीं किया—क्योंकि, ऐसा करना उसके कर्तव्य के विरुद्ध बात थी। बहुत दूर पहुँच जाने पर और सब तो भवदत्त मुनि को बिदा करके लौट आये, किन्तु उसके छोटे भाई भवदेव ने ऐसा नहीं किया। उसने अपने मन मे सोचा—"ये तो लौट सकते है, क्योंकि ये कोई इनके सहोदर तो हुई नहीं, पर मैं तो मुनि भवदत्त का सहोदर हूँ, मैं भला कैसे लौट सकता हू ? फिर इनके पास बोझ अधिक होने के कारण यह थक गये हैं, इसीलिए इन्होंने घी का यह पात्र मुझे पकडाया है। इसलिए इनको इनके ठिकाने तक पहुँचाये बग़ैर मुझे वापस नहीं लौटना चाहिए।" इस प्रकार विचार करके भवदेव अपने बड़े भाई मुनि भवदत्त के पीछे-पीछे हो लिया।

अब भवदत्त ने यह सोचकर कि शायद यह मेरे साथ न आना चाहता हो, उससे गृहस्थाश्रम की बातें करना शुरू किया। अपने

बचपन की बातों मे दोनों भाइयों को बडा आनन्द आया, और इस प्रकार बातें करते हुए वे एक गाँव मे आ पहुँचे। आचार्य सुस्थित इस समय अपने शिष्यों के साथ इसी गाँव में ठहरे हुए थे।

संकीर्ण विचारों वाले शिष्य वर-वेश मे भवदेव को अपने भाई के साथ आता देख हँसने लगे, पर उसने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। जब सुस्थित सूरि ने पूछा, "भवदत्त! यह युवक कौन है?", तो उसने कहा—"महाराज! यह मेरा छोटा भाई भवदेव है, दीक्षा लेने के लिए यहाँ आया है।"

आचार्य ने भवदेव से पूछा—"क्यों भवदेव! क्या सचमुच तू संन्यासी बनना चाहता है?" तो उसने जवाब दिया—"मेरे भाई भूठ नहीं बोलते।" तब जैन आचार्य सुस्थित सूरि ने उसी दिन भवदेव को संन्यास की दीक्षा दे दी, और दो साधुओं के साथ भिक्षा के लिए जाने की आज्ञा दी।

इसी बीच भवदेव के सगे-सम्बन्धी वहाँ आ पहुँचे और भवदत्त से पूछने लगे, "भवदेव अपनी नव-परिणीता पत्नी को अर्धालंकृत दशा मे छोड़कर चला आया है, वह कहाँ गया? उसके इस प्रकार एकाएक बिना कुछ कहे-सुने चले आने से घर पर तो बड़ी गडबड़ मच रही है। इस बात की तो हमे स्वप्न में भी आशा न थी कि वह बिना किसी से कहे-सुने इस प्रकार एकाएक चला आयगा। बताओ वह कहाँ है?"

भवदत्त ने अपने छोटे भाई के भावी कल्याण का खयाल करके भूठमूठ कहा, "वह यहाँ आया तो जरूर था, पर मुझे यह मालूम नहीं कि फिर वह कहाँ चला गया।"

सगे-सम्बन्धियों ने चारों तरफ उसकी खोज की, पर कहीं उसका पता न लगा, तब निराश होकर लौट गये।

भवदेव की अब क्या स्थिति हुई होगी, यह सोचने की वात है। उसने तो केवल अपनी प्रबल भ्रातृभक्ति के कारण ही संन्यास-व्रत लिया था, इसलिए रह-रह कर उसके हृदय मे अपनी नवपरिणीता प्रिय पत्नी नागिला का विचार उठने लगा। यह व्रत उसे बहुत अखरता-पर अव तो इसे निवाहे वगैर छुटकारा ही नहीं था। कालान्तर में उसके वड़े भाई भवदत्त ने अनशन व्रत ग्रहण करके देह-त्याग किया। तब भवदेव सोचने लगा—"मैंने तो अपने बड़े भाई के आग्रह से इतने दिनों तक इस संन्यास-व्रत का पालन किया है। अव वह स्वर्गवासो हो गये, तो अव मुझे इस कष्टसाध्य व्रत की क्या जरूरत है? नागिला को मेरे विरह मे जो वेदना होती होगी, उसके सामने संन्यास का मेरा यह दुःख किसी भी गिनती मे नहीं है। वह वेचारी कितनी दुःखी होगी। अपनी उस प्रियतमा को जीवित देख सकूँ तो मैं आज ही गृहस्थाश्रम स्वीकार कर उसके साथ आनन्द मे दिन विताऊँगा।"

इन्हीं विचारों मे भवदेव का मन वडा व्याकुल हो गया। एक दिन आचार्य से आज्ञा लिये विना ही वह आश्रम से चल दिया और अपने जन्मस्थान सुग्राम मे पहुँचा। वहाँ एक घर के बन्द दरवाजे पर वह वैठ गया। कुछ देर वाद एक ब्राह्मणी के साथ एक स्त्री वहाँ आई और मुनि-वेश में वैठे हुए भवदेव के दर्शन करके पुष्प-माला से उसकी पूजा की। भवदेव ने उससे अपने माता-पिता के वारे में दर्याफ्त किया कि वे

जिन्दा हैं या नहीं ? तो उसने जवाब दिया, कि "वे तो कभी के मर चुके।" तब उसने पूछा—"उनका पुत्र भवदेव अपनी नव-परिणीता पत्नी को छोड़कर चला गया था, वह स्त्री तो जिन्दा है न ?" यह सुनकर मन-ही-मन वह स्त्री भवदेव को पहचान गई, फिर भी निश्चय करने के लिए उसने पूछा--"क्यों महाराज, कहीं आप ही तो भवदेव नहीं हैं ? क्या मैं जान सकती हूँ कि आप यहाँ कैसे आये हैं ?"

भवदेव ने कहा—"हाँ, मैं ही वह अभागा भवदेव हूँ। अपनी खुद की इच्छा न होते हुए भी बड़े भाई के आग्रह से मैंने सन्यास, ग्रहण किया था। पर अब वह मर गये, अब मैं निरंकुश हूं। मेरी प्रियतमा नागिला की क्या दशा है, यह देखने के लिए ही मैं आज यहाँ आया हूँ।"

कहने की जरूरत नहीं कि भवदेव के साथ उपर्युक्त वार्तालाप करनेवाली स्त्री नागिला ही थी। इतने वर्षों में पति-वियोग से उसकी मुखाकृति इतनी निस्तेज होगई थी कि भवदेव उसे पहचान नहीं सका। आखिर अपना परिचय देने के लिए धीमी आवाज मे नागिला ने कहा—"मै ही वह नागिला हू, जिसे नव-परिणीतावस्था में त्याग कर आप चले गये थे। भगवन्। जरा सोचकर देखो कि अब मुझमे क्या लावण्य रह गया है। स्वामी। स्वर्ग के सुख का त्याग करके अब आप मुझे ग्रहण न करें। महाघोर नरक मे डालनेवाले विषय-भोग और काम-वासनाओं के वश अब आप न हों। यह ठीक है कि आपके भाई ने प्रपंच करके आपसे यह व्रत धारण कराया, परन्तु इसमें आपका परलोक सुधरे, यही उनका उद्देश था। अब

पाप-पुञ्ज मेरे इस शरीर पर अनुरक्त होकर आप अपने स्वर्गीय भाई के प्रति अपने प्रेम को न छोड़ें। अतः फिरसे गृहस्थ के झंझट में पड़ने का विचार छोड़कर आप आज ही लौट जायँ और गुरुदेव की शरण जाकर अपनी इस अनुरागजनित पाप-बुद्धि के लिए उनसे क्षमा-याचना करें।"

नागिला अपने पति भवदेव को इस प्रकार समझा रही थी, इतने मे उसके पास खड़ी हुई ब्राह्मणी का लडका किसी यजमान के घर से खूब खीर खाकर वहाँ आया और अपनी माँ से कहने लगा—"माँ! आज मैंने अमृत-जैसी मीठी खीर खाई है। तुम कोई बर्तन धरो तो मैं उसमे उल्टी करूँ, क्योंकि मुझे एक और जगह भी निमंत्रण मिला है और पहला खाया हुआ वमन-द्वारा निकले बगैर दुबारा भोजन नहीं हो सकता और भोजन नहीं किया तो यजमान दक्षिणा भी नहीं देगा। दक्षिणा लेकर जब लौटूंगा तो इस खीर को खा लूँगा। मैंने ही तो उलटी करके उसे निकाला है और मैं ही फिर उसे खाऊँगा। अपना उगला हुआ आप खाने मे क्या शर्म है?"

पुत्र के मुँह से ऐसी गन्दी बात सुनकर माता ने कहा—"बेटा! उल्टी करके खाने से लोग बड़ी निन्दा करेंगे। खबरदार, जो कभी तूने ऐसा किया।"

भवदत्त ने भी ब्राह्मणी की बात का समर्थन करते हुए कहा—"बच्चे! तू अगर उलटी किया हुआ अन्न खायगा तो कुत्तो से भी नीच गिना जायगा।"

इस सुन्दर अवसर का उपयोग कर नागिला ने कहा—"तपोधन! जब आप इतना ज्ञान रखते हैं तो मुझे वमन किये बाद, एक बार छोड़

कर, फिर ग्रहण करने का विचार क्यों ? मैं तो अत्यन्त अधम हूँ—रक्त, मास, हड्डी आदि महानिकृष्ट पदार्थों की बनी हुई हूँ, ऐसी हालत में मेरे साथ पुनः सम्बन्ध जोड़ते हुए आपको लज्जा न आयगी? पर्वत पर लगनेवाली आग तो आप देख सकते है, पर अपने पैरों-तले लगी हुई आग को देखते ही नहीं, दूसरों को तो उपदेश देते है, पर स्वयं आप उसके अनुसार नहीं चलते। लेकिन जो आदमी दूसरों को उपदेश देने मे ही बहादुरी दिखाये, उसकी गणना पुरुषों मे नहीं होती, सच्चा पुरुष तो वही है, जो अपने आपको सलाह और उपदेश देने मे प्रवीण हो।"

सती नागिला की ऐसी बातें सुनकर भवदेव ने कहा—"देवी, आज तूने मुझे बहुमूल्य उपदेश दिया है। आजतक मैं मोहान्ध होकर उलटे रास्ते जा रहा था, पर आज तेरे उपदेश से ठीक रास्ते पर आगया हूँ। अतः सगे-सम्बन्धियों से एक बार मिलकर मैं गुरुदेव के पास लौट जाऊँगा और अपने मनोविकार के लिए पश्चात्तापपूर्वक उनसे क्षमा-याचना करके उनके उपदेशानुसार कठोर तपस्या का आरम्भ करूँगा।"

आचार्य सुस्थित के पास जाकर भवदेव ने पुनः धर्म-साधना आरम्भ की, और सती नागिला भी पति से दीक्षा ले संन्यासिनी बनकर धर्म-चर्या में तल्लीन होगई।

सती नागिला का दृष्टान्त भी आर्यशास्त्र मे एक अनुपम दृष्टान्त है। इससे मिलता हुआ ही एक आख्यान बोधि-सत्त्वावदान कल्पलतिका (दशम पल्लव) मे भी मिलता है। उस आख्यान का नन्द भी

सुन्दरी के लिए इतना ही अनुरक्त हुआ था। जैसे भवदेव ने भाई के आग्रह से संन्यास-व्रत लिया था वैसे ही नन्द ने भी भगवान बुद्धदेव के आग्रह से संन्यास लिया था और वह भी बाद में सुन्दरी के विरह से व्याकुल हुआ था तथा अन्त मे भगवान बुद्धदेव ने उसका उद्धार किया था।

१६

स्वयंवरा

कलावती

कलावती देवशाल-नरेश विजयसेन की कन्या थी। इसकी माता का नाम श्रीमती था। श्रीमती एक विदुषी स्त्री थी। कलावती उसकी एकलौती पुत्री होने के कारण, कलावती पर उसे विशेष स्नेह था। परन्तु उसने अपने प्रेम का प्रदर्शन ऊपरी लाड़-प्यार मे न कर, कलावती को अनेक शास्त्र तथा कलाओं एवं नीति की उच्च शिक्षा देने मे किया।

शिक्षा प्राप्त कर जब कलावती विवाह के योग्य हुई तो बुद्धिमान माता-पिता ने इस बारे मे उसका अभिप्राय पूछा। कलावती ने कहा—"मैं विवाह तो करूँगी, पर ऐसे पुरुष से करूँगी जो मेरे चार प्रश्नों का उत्तर देदेगा।"

जिस समय का यह जिक्र है उस समय मंगला देश मे शंखराज नामक एक प्रजावत्सल राजा राज्य करता था। एक दिन दत्त नामक एक साहूकार उसके राज्य में पहुँचा। उसने अपने प्रवास का वर्णन करते हुए कलावती के रूप, गुण और बुद्धि की बड़ी प्रशंसा की तथा उसका एक चित्र भी अपने पास से निकाल कर बताया। देवाङ्गना के समान दीप्तिमान सुन्दरी कलावती का चित्र देखते ही राजा उसपर

मोहित होगया और उसके गुणों का वर्णन सुनकर उससे विवाह करने की उत्कण्ठा उसके मन मे जागृत हुई। साहूकार से उसे यह भी मालूम होगया कि कलावती ने अपने चार प्रश्नों का उत्तर देनेवाले को वरण करने की प्रतिज्ञा कर ली है। अतः उसके प्रश्नों का उत्तर देने की योग्यता प्राप्त करने के लिए उसने अपना बहुत-सा समय विद्वानों की संगति और अच्छे-अच्छे ग्रन्थों के अध्ययन में लगाना शुरू किया।

कलावती के लिए उसके पिता ने स्वयंवर की व्यवस्था की। अनेक राजा-महाराजा परमसुन्दरी कलावती को व्याहने की अभिलाषा से उस स्वयंवर मे आये। राजभट्ट ने ऊँची आवाज मे कहा—"जो कोई राजकुमारी के चार प्रश्नों का उत्तर देगा उसीके गले मे वह अपनी वर-माल डालेंगी। राजकुमारी के चार प्रश्न ये हैं—*(१) देवता कौन है? (२) गुरु कौन है? (३) तत्त्व क्या है? और (४) सत्त्व किसे कहना चाहिए?*"

राजाओं ने उत्तर देने शुरू किये। अनेक राजाओं ने चारों प्रश्नों के उत्तर दिये, किन्तु जैनधर्म से प्रेम रखनेवाली राजकुमारी को वे नहीं रुचे। परन्तु शंख राजा के उत्तर उनसे भिन्न प्रकार के थे। उसने कहा—"(१) वीतराग ही परम-देवता है, (२) पंच महाव्रत धारण करनेवाला परमगुरु है, (३) प्राणिमात्र पर दया रखना ही तत्त्व है, और (४) इन्द्रियों पर निग्रह रखना ही सत्त्व है।" कलावती इस उत्तर से बहुत प्रसन्न हुई और राजा शंख के गले मे उसने अपनी वरमाला पहनादी। पश्चात् विधिपूर्वक विवाह-संस्कार हुआ और राजा ने खूब दान-दहेज के साथ कलावती को राजा शंख के साथ विदा किया।

राजा शंख और रानी कलावती का एक-दूसरे पर बहुत प्रेम हुआ और बड़े सुख के साथ उनका गार्हस्थ-जीवन व्यतीत होने लगा। कुछ समय बाद कलावती गर्भवती हुई, और आठ महीने का गर्भ हो जाने पर पीहरवाले उसे लेने आये। उनके साथ उसके भाई जयसेन ने उपहार के तौर पर बहन के लिए कई कपड़े और दो कंकण भी भेजे। पर राजा शंख ने कलावती को भेजना स्वीकार नहीं किया। तब कलावती को जयसेन का उपहार देकर वे लोग वापस चले गये। कलावती ने भाई के उपहार को प्रसन्नतापूर्वक धारण किया। पर एक दिन यही उपहार उसके दुःख का कारण हुआ।

झरोखे मे बैठी हुई कलावती अपनी सखी से बातें कर रही थीं। बातों-ही-बातों मे उसने सखी से कहा—"देख री बहन। उनका मेरे ऊपर कितना प्रेम है, जो मेरे लिए ऐसे अच्छे कंकण भेजे हैं। देख तो सही, इनसे मेरे हाथ कैसे सुन्दर लगते हैं।"

संयोग की बात है कि राजा इसी समय झरोखे के नीचे होकर कहीं जा रहा था। उसके कान मे यह बात पड़ी, तो उसे अपने मन मे सन्देह हुआ कि अवश्य रानी का किसीसे गुप्त प्रेम है। इस शंका का उत्पन्न होना था कि उसका रोम-रोम क्रोध से जल उठा। दो चण्डालों को बुलाकर उसने हुक्म दिया—"जाओ, रानी को जंगल मे छोड़ आओ और कंकणों-सहित उसके दोनों हाथ काटकर मेरे पास लाओ।"

राजा की आज्ञानुसार चण्डाल रानी को वन मे ले गये और उसे राजा का हुक्म सुनाया। रानी ने सोचा कि अपने कर्मों के

दोष से ही मेरे ऊपर यह दुःख आया होगा। यह सोचकर शान्ति-पूर्वक उसने चण्डालों के आगे अपने हाथ कर दिये और वे उन्हें काटकर राजा के पास ले गये।

जंगल मे ही कलावती के पुत्र पैदा हुआ। उस समय उसे मर्म-वेदना हुई। पुत्र को सम्बोधन करके वह कहने लगी—"अरे। पिता के घर तेरा जन्म होता तो आज गाजे-बाजे के साथ बड़ी शान से उत्सव मनाया जाता, परन्तु हा। आज तो मेरी ऐसी दशा है कि सियार, लोमड़ी आदि जंगली जानवरों की आवाज से ही तेरा जन्मोत्सव मन रहा है।"

इतने मे नदी में भयंकर बाढ़ आई। अनेक घर, वृक्ष तथा मनुष्य उसमें बहने लगे। तब कलावती को परमेश्वर का स्मरण हुआ। भगवान को सम्बोधन करके उसने कहा—"मन, वचन और शरीर से यदि मैंने अपने पतिव्रत-धर्म का पालन किया हो और शील-व्रत को पूरी तरह निबाहा हो, तो मेरे दोनों हाथ ठीक हो जायें और नदी का प्रवाह भी अनुकूल हो जाय।" इसी समय एक तपस्वी वहाँ आया और कलावती को उसकेनवजात शिशु के साथ अपने आश्रम मे ले गया। वहाँ तपस्विनियों के साथ कलावती सुखपूर्वक धार्मिक जीवन बिताने लगी।

उधर चण्डाल कलावती के दोनों हाथ लेकर राजा के पास गये। राजा ने कंकणों को हाथ मे लेकर देखा तो उनपर अपने साले जयसेन का नाम खुदा हुआ था। इसपर उसने जाँच की तो मालूम पडा कि भाई ने ही बहन को यह उपहार भेजा था और झरोखे मे बैठी रानी

अपने भाई के शुद्ध प्रेम की ही बात कर रही थी। तब तो राजा को बड़ा पश्चात्ताप हुआ, यहाँ तक कि चिता में जल मरने को तैयार होगया; परन्तु मंत्री ने समझा-बुझाकर उसे ऐसा करने से रोका।

अब राजा ने अपने विश्वस्त मित्र दत्त को रानी की शोध में भेजा, और आप भजन, पूजन तथा धर्म-चर्चा में अपना समय बिताने लगा। खोज करने पर तपस्वियों के आश्रम में दत्त को कलावती का पता लगा। कलावती दत्त को पहचानती थी, अतः उसको देखते ही कलावती का शोक उमड आया और वह रोने लगी। दत्त ने उसे आश्वासन दिया और राजा के पश्चात्ताप का हाल कहा। इसपर कलावती के हृदय मे अपने पति के प्रति करुणा का संचार हुआ और मुनिवर को प्रणाम कर, उनकी अनुमति प्राप्त करके, वह पति के पास चलदी। वहाँ गाजे-बाजे के साथ पति ने उसका स्वागत किया और कहा—"देवी। निर्दोष होते हुए भी तेरे साथ मैंने जो घातक व्यवहार किया, उसके लिए मैं तुमसे क्षमा चाहता हूं।" पर कलावती तो इससे पहले ही उसे क्षमा कर चुकी थी, क्योंकि कुलीन स्त्रियाँ पति के दोष को कभी हृदय मे स्थान देती ही नहीं।

इसके बाद फिर इनका संसार सुखमय होगया। पुण्यकलश पुत्र का नाम रक्खा गया, और उसके बड़े होने पर, उसे राज्य सौंप, राजा-रानी ने दीक्षा ले ली। पश्चात् बहुत समय तक चारित्र का पालन करके पति-सहित कलावती ने स्वर्ग प्राप्त किया।

१७

ज्ञान-पिपासु

जयन्ती

जयन्ती राजा सहस्रानीक की पुत्री और कौशाम्बी-नरेश उदायन की फूफी थी। राजा इसका बड़ा सन्मान करता था।

महावीर स्वामी इस समय भारतवर्ष मे जैनधर्म का प्रचार कर रहे थे। घूमते-घूमते वह कौशाम्बी भी पहुँचे। राजा उदयन ने उनके समागम की खुशी में सारे नगर को अच्छी तरह सजाया और बडी श्रद्धा के साथ महावीर स्वामी की पधरामणी करके यथाविधि उनकी पूजा की।

राजकुटुम्ब की महिलायें भी महावीर स्वामी के दर्शनों को आई। और सब स्त्रियाँ तो दर्शन करके चली गई, परन्तु परम-विदुषी और ज्ञान-पिपासु जयन्ती वहीं बैठी रही और स्वामी का उपदेश सुनने लगी। उपदेशोपरान्त तत्त्वज्ञान के कई गूढ़ प्रश्नों सम्बन्धी अपनी शंकाओं का समाधान करने के उद्देश से उसने महावीर स्वामी से पूछा—"भगवन्! जीव भार-कर्मी किस प्रकार होता है?"

महावीर स्वामी ने जवाब दिया—"जयन्ती! अठारह पाप-कर्म करने से जीव भार-कर्मी होता है।"

जीव-हिंसा, असत्य-भाषण आदि उन अठारह दोषों को बताकर विस्तार से जब महावीर स्वामी ने समझा दिया, तब जयन्ती ने पूछा—"भगवन्! स्वप्नावस्था की अपेक्षा जाग्रतावस्था मे मनुष्य कर्मो का बोझ अधिक बांधते हैं, अतः प्राणियों का सोते रहना अच्छा है या जागते रहना?"

इस प्रश्न से प्रसन्न होकर महावीर स्वामी ने कहा—"जो प्राणी चारित्र-धर्म का अनुसरण न करते हों, बडों का कहना न मानते हों, दूसरों को धर्मोपदेश न करते हों, धर्म पर जिनकी भक्ति न हो, अपने धर्म पर जिनकी भक्ति न हो, अपने कुलाचार का जो पालन न करते हों, और जो अनीति एवं दुराचार का सेवन करते हों, ऐसे मनुष्य विस्तर में पड़े-पड़े खुर्राटे लेते रहे तो ही ठीक है, क्योंकि वे जागते रहेंगे तो अन्य प्राणियों के दुःख का कारण होंगे। इसके विरुद्ध जो सदाचारी, धार्मिक, परोपकारी, साधु-सन्त और अपने बडों की सेवा करनेवाले, नीति और धर्म के अनुसार आचरण करनेवाले हैं, उनका जागते रहना ही ठीक है, क्योंकि वे जन-समाज तथा अन्य प्राणियों का अनेक प्रकार हित कर सकते है।

इसके बाद जयन्ती ने पूछा—"जीव बलवान अच्छा या निर्बल?"

इसका उत्तर भी उसी प्रकार विस्तार से देकर महावीर स्वामी ने बताया, "पहले बताये हुए पापी जीवों का दुर्बल होना ही अच्छा है, क्योंकि उनके दुर्बल होने से अन्य प्राणी दुःख से बचते है। पर जिन्हें मैंने धर्मात्मा बताया है वे लोग बलवान हों, यही अच्छा है, क्योंकि वे अपने बल से सब तरह के जीवों की रक्षा और भलाई करते हैं।"

जयन्ती ने और पूछा—"जीव उद्यमी अच्छे या आलसी ?"

इसके जवाब में स्वामीजी ने कहा—"धार्मिक जीव उद्यमी अच्छे हैं; क्योंकि वे आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, विद्यार्थी, संघ तथा जन-समाज की सेवा करते हैं। पर पापी जीवों का आलसी रहना ही ठीक है, क्योंकि आलस्य मे पड़े रहे, उतने समय तो वे दुष्कर्म से बचे ही रहते हैं।"

और भी कई प्रश्नों का जयन्ती ने महावीर स्वामी से समाधान कराया था। इसपर से मालूम पड़ता है कि यह कितनी असाधारण विद्वान तथा शास्त्रों मे पारंगत थी। किसी रूप मे इसे हम पौराणिक काल की मैत्रेयी और गार्गी की ब्रह्म-जिज्ञासा की विरासत पाई हुई कहे तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

१८

अतिमुक्त मुनि की माता

श्रीमती

श्रीमती पेटालपुर-नरेश विजय की पटरानी थी। यह अनेक सद्गुणों से विभूषित थी। धर्म की ओर इसकी प्रवृत्ति थी। प्रजा की सेवा, दान-पुण्य, ईश्वर-पूजा आदि में पति-पत्नी का समय व्यतीत होता था। श्रीमती के एक पुत्र भी हुआ था, जिसका नाम अतिमुक्त रक्खा गया।

माता-पिता जैसे होते है, उनके वालक भी वैसे ही वनते हैं—यह सव जानते ही हैं। एक दिन की वात है कि गौतम स्वामी इनके यहाँ भिक्षा लेने आये। उन्हे देखकर वालक ने कहा—"मैं भी आप-जैसा ही वनूँगा। गौतम स्वामी ने उसे साधु के कर्तव्य वताये और कहा कि साधु वनना कोई हँसी-खेल नहीं, तलवार की धार के ऊपर खडा होना है। परन्तु इतने पर भी वालक ने यही कहा कि "मैं तो आप-जैसा ही वनूँगा।"

भिक्षा लेकर गौतम स्वामी वापस जाने लगे, तो वालक ने माता-पिता से कहा कि "मुझे दीक्षा दिला दो, मैं भी स्वामी वनूँगा।" पिता ने उसे वहुत समझाया कि हमारी भविष्य की सारी आशायें तुम्ही-

पर हैं, बड़ा होकर तुझे तो राजपाट सम्हालना है; अभी से साधु बनने की क्या बात ? माता श्रीमती ने भी प्रेम-पूर्वक बहुतेरा समझाया; पर पुत्र ने कहा—"माता ! तुम्हींने तो मेरे अन्दर ऊँचे संस्कार डाले हैं। आज उन विचारों को अमल में लाने का अवसर आया है, तो तुम संसार और राज-वैभव का मोह बताकर मुझे ललचाती हो ! तुमने और पिताजी ने वृद्धावस्था की जो बात कही वह भी मुझे नहीं रुचती, क्योंकि कौन बुड्ढा और कौन जवान ? संसार में तो सभी वस्तुयें अनित्य हैं। भला कौन किसका पुत्र है ? संसार-चक्र में घूमते हुए ऐसे अनेक सम्बन्ध बनते और टूटते हैं। संसार की वस्तुओं का आश्रय लेने से मनुष्य को कभी सुख नहीं मिलता। मनुष्य के लिए सच्चा आश्रय तो भगवान के वचन ही हैं।"

पुत्र के मुँह से इस प्रकार ज्ञान की बातें सुनकर माता-पिता समझ गये कि इसके मन मे सच्चे वैराग्य का उदय हुआ है, अतः प्रसन्नता-पूर्वक उन्होंने उसे दीक्षा लेने की अनुमति प्रदान की।

अपने एकलौते बेटे के इस प्रकार संन्यास ले लेने पर श्रीमती ने भी अपना जीवन धार्मिक कामों मे ही व्यतीत किया। अपने राज्य के दीन-दुःखी और निराधार लोगों को आश्रय देने के लिए उसने संस्थायें स्थापित की थीं। जैन-शास्त्रों मे अतिमुक्त मुनि की माता के नाम से यह बहुत प्रख्यात है।

१६

अभयकुमार की माता

सुनन्दा

सुनन्दा जैन-संसार मे ख्याति-प्राप्त राजा श्रेणिक की पत्नी और अभयराज की माता थी। वेन्नातट नगर मे धनपति नामक साहूकार के यहाँ इसका जन्म हुआ था। माता-पिता ने सुनन्दा को अच्छी शिक्षा दी थी और योग्य वर की तलाश में वडी उम्र तक उसे क्वारी ही रहने दिया था।

इसी वीच राजगृह-नरेश का पुत्र श्रेणिक धनपति की दूकान पर आया और उन दोनों मे मित्रता हो गई। फलतः श्रेणिक धनपति के घर आने-जाने लगा। तव सुनन्दा को श्रेणिक के रूप-गुण का परिचय हुआ और वह उसपर मोहित हो गई। जब अपनी माता से उसने अपने मन की यह वात कही, तो उसकी माता को इस प्रकार एक अनजान पुरुप के साथ अपनी पुत्री का विवाह की इच्छा करना अच्छा न लगा। उसने सुनन्दा को इसके लिए वुरा-भला कहा। सुनन्दा ने नम्रतापूर्वक कहा—"माँ। मैंने अपने हृदय का सच्चा भाव तुमपर प्रकट कर दिया, इसका यह अर्थ न लगाओ कि मैंने किसी प्रकार अपनेको कलंक लगा लिया है। मेरे मन मे किसी प्रकार का

विकार नहीं है। श्रेणिककुमार पर मेरा वैसा ही विशुद्ध प्रेम है, जैसा किसी आर्य स्त्री को शोभा दे सकता है। श्रेणिक मेरे हृदय का स्वामी है। विवाह करूँगी, तो उसीसे करूँगी, नहीं जन्म भर कुमारी रह कर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करूँगी।"

सुनन्दा के पिता को जब यह बात मालूम हुई तो वह बड़ा खुश हुआ। श्रेणिक के गुणों से तो वह परिचित हो ही चुका था और भिन्न-भिन्न वर्णों के बीच विवाह होने मे उस समय कोई रुकावट नहीं थी। अतः इस विवाह-सम्बन्ध से वह सहमत हो गया।

श्रेणिक से जब यह बात कही गई, तो उसने सुनन्दा से मिलकर अपनी वास्तविक स्थिति उसे बतलाई। यह भी समझाया कि मुझ-सरीखे चलते-फिरते अनजान पुरुष के साथ विवाह करना जोखिम मोल लेना है। परन्तु सुनन्दा ने किसी भी जोखिम की परवा नहीं की। अपने भावी पति पर जरा भी अविश्वास न करते हुए उसने कहा—"आप झूठा भय बताकर मेरा विचार बदलने की आशा न करें। मैं यह निश्चय कर चुकी हूँ कि विवाह करूँगी तो आपसे ही करूँगी; नहीं संयमपूर्वक कौमार्य-व्रत धारण करूँगी। आप परदेशी हैं, इसलिए विवाहोपरान्त मुझे छोड़कर चले जायँगे, तो मैं पतिव्रत-धर्म का पालन करती हुई पीहर में रहूँगी और रात-दिन आपका नाम जपूँगी।" तब श्रेणिक ने भी अपना हृदय उसे दे दिया, और एक शुभ दिन उन दोनों का विवाह होगया।

विवाह के कुछ समय बाद सुनन्दा गर्भवती हुई। सुनन्दा की माता प्रेम-पूर्वक उसकी सब इच्छायें पूरी करने लगी, फिर भी सुनन्दा

कमजोर होती जाती थी। इस वात की जाँच करने पर मालूम पड़ा कि उसके मन में एक अभिलाषा उत्पन्न हुई है और उसके पूर्ण होने की आशा न होने के कारण वह दिन-दिन सूखती जारही है।

गर्भावस्था में वैसे तो हरेक स्त्री को किसी-न-किसी प्रकार की अभिलाषा होती है, परन्तु सुनन्दा की अभिलाषा तो वहुत ऊंची थी। वह हाथी पर वैठकर राजमार्ग में दान करती हुई जाना चाहती थी और चाहती थी कि उस समय राजा उसके साथ-साथ चले और फिर देवस्थानों मे पूजा की जाय। अपनी इस अभिलाषा का विस्तार से वर्णन करते हुए सुनन्दा ने अपनी माता से कहा—"माँ! मेरी अभिलाषा है कि हाथी पर बैठकर वाजे-गाजे के साथ मैं जाऊँ, पंच-परमेष्ठि का मंत्र पढ़ूँ, मन-चाहा दान दूँ, स्वधर्मियों का सन्तोष करूँ, अहिंसा-व्रत पालन करूँ, स्वधर्मियों को सन्तोष दूँ, देश में अहिंसा का पालन कराऊँ और साधुओं को सात्विक भोजन कराऊँ।"

वेटी की ऐसी अभिलाषा जानकर माता खुश तो खूब हुई, पर यह वात अपने वूते से वाहर होने के कारण सुस्त पड गई। जमाई को जव उसने यह वात सुनाई तो वह पत्नी की उच्च अभिलाषा से प्रसन्न हुआ। उसने इसकी पूर्ति का एक उपाय सुझाया। नगर के राजा के सुलोचना नाम की एक लड़की थी। उसकी आँखें सुन्दर और विशाल होने पर भी तेज-हीन थीं। इस प्रकार आँख होते हुए भी वह वेकाम थी। श्रेणिक के पास एक ऐसा रत्न था, जिसको आँख पर लगाने से आँख की रोशनी वापस आजाती थी। श्रेणिक के कहने पर उस रत्न को लेकर सेठ धनपति राजा के पास गया और सुलो-

चना की आँख अच्छी करके उसने राजा को खुश कर दिया। राजा ने मुँह-माँगा इनाम देने को कहा, तब सेठ धनपति ने अपनी पुत्री की अभिलाषा का हाल कहकर उसे पूर्ण करने की प्रार्थना की। राजा ने यह बात मानली और सुनन्दा की अभिलाषा पूरी होगई।

इसके बाद श्रेणिक अपने पिता के राज्य में गया। सुनन्दा ने अपने पीहर मे जो पुत्र प्रसव किया उसका नाम अभयकुमार रक्खा गया। माता ने उसे खूब अच्छी शिक्षा दी। कुछ समय बाद वह भी पुत्र के साथ पति के घर गई। राजा श्रेणिक ने धूमधाम से उसका स्वागत किया।

दीन-दरिद्रों की सेवा, धर्मोपदेश, ईश्वर-पूजा आदि सत्कार्यों मे ही सुनन्दा ने अपना जीवन व्यतीत किया। सुनन्दा ने (महावीर स्वामी के समय में) बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की थी और उत्तरावस्था में दीक्षा लेकर मोक्ष की अधिकारिणी बन गई थी।

— —

सतीत्व का आदर्श

शीलवती

शीलवती अपने समय में सतीत्व का आदर्श मानी जाती थी और असाधारण बुद्धिमती थी।

मंगलापुरी-निवासी सेठ जिनदत्त के घर इसका जन्म हुआ था। नाम के अनुरूप ही इसमें गुण थे। पिता ने उच्च शिक्षा देकर इसकी बुद्धि को संस्कृत किया था। साथ ही धर्म और नीति के उच्च संस्कार भी इसमे डाले थे। पाकविद्या (रसोई), अतिथि-सत्कार, गृह-प्रवन्ध आदि में भी यह निपुण थी।

वयः प्राप्त होने पर जम्बुद्वीप के सेठ रत्नाकर के पुत्र अजितसेन से शीलवती का विवाह हुआ। अजितसेन भी सुन्दर और सुशिक्षित था; इसलिए यह सम्बन्ध सब तरह से ठीक ही रहा।

ससुराल मे शीलवती ने अपने मधुर स्वभाव आज्ञा-पालन एवं कार्य-कुशलता से सबको खुश कर लिया। सेठ रत्नाकर और उनकी पत्नी ने, अपने घर ऐसी विनम्र बहू आई देख, अपने जीवन को सफल समझा। वे कहने लगे कि "कुल और घर के दीपकरूप उत्तम बहू प्राप्त करके मनुष्य गृहस्थाश्रम को तीनों आश्रमों का सार-रूप समझता है, यह ठीक ही है।"

एक बार आधी रात को लोमड़ी की आवाज सुनकर शीलवती ने समझा, दिन निकलने का समय आगया है; अतः सिर पर घड़ा रखकर वह पानी लेने चलदी। उसका ससुर सेठ रत्नाकर इस समय जाग रहा था। पुरुषों की यह आदत होती ही है कि स्त्रियों के बारे में विशेष विचार न कर एकदम उनके चरित्र पर शंका करने लगते हैं। इस समय बहू को जाते देख, उसे भी बहू के आचरण पर सन्देह हुआ।

उधर शीलवती ने बाहर निकलकर जब देखा कि अभी तो आधी रात ही है, तो वह लौट आई और घड़ा रखकर फिर सो गई। लेकिन सेठ रत्नाकर के मन मे तो जो बात उठी वह जम ही गई। सवेरे उसने बहू के बारे में अपनी पत्नी के विचार पूछे। पत्नी ने विश्वास दिलाया कि बहू का सारा आचरण मर्यादापूर्ण ही है, मगर सेठ को विश्वास न हुआ। वह तो रात को अपनी आँखों से उसे बाहर जाते देख चुका था। अतः उसे प्रत्यक्ष सबूत मानकर, उसने शीलवती को व्यभिचारिणी ठहरा दिया। यही नहीं बल्कि पुत्र के मन में भी उसने यह बात जमा दी और शीलवती को त्याग देने की सलाह दी। जब पुत्र भी सहमत हो गया, तो पीहर भेजने का बहाना करके सेठ ने शीलवती को रथ मे बैठाया और शहर बाहर चल दिये।

रास्ते में नदी आई तो सेठ ने जूते उतार कर नदी पार करने के लिए शीलवती से कहा, पर वह जूते पहने हुए ही उस पार गई। वहाँ से आगे चलने पर एक खेत आया। सेठ ने कहा—"इस खेत के मालिक की चाँदी है, क्योंकि इसमें उपज बहुत होगी।" पर बहू ने कहा—"हाँ, यदि कोई इसे खा न जाय, तो आपकी बात जरूर ठीक

होगी।" सेठ ने समझा कि वहू कुछ जानती नहीं, नादान और वातेंवनानेवाली है। और आगे जाने पर एक सुन्दर समृद्धिशाली नगर आया। ससुर ने उसकी वडी तारीफ़ की, पर वहू ने कहा—"यह उजाड होता तो अधिक अच्छा था।" पश्चात् एक योद्धा मिला, जो लड़ाई मे लहू-लुहान हो रहा था। ससुर ने उसकी वीरता की सराहना की, परन्तु वहू ने कहा—"यह तो पिटकर आया है; डरपोक और पामर है।" इस प्रकार वहू के स्वभाव से सेठ चिढ़ता ही जाता था। इतने मे एक वड़ का दरख़्त रास्ते में आया। सेठ उसकी छाया में वैठा, परन्तु वहू उसके कहने पर भी वहाँ से दूर ही वैठी। आगे चलने पर एक वढिया शहर आया, जिसमे सात दरवाज़े थे। सेठ ने उसकी प्रशंसा की, पर वहू ने उसे उजाड़ गाँव वतलाया। उसके बाद तीन-चार घरों का एक गाँव आया, उसे देखकर वहू ने कहा—"यह अच्छा आवाद गाँव है।" शीलवती के ऐसे उलटे उत्तरों से सेठ का क्रोध वढ़ता जा रहा था, इतने मे शीलवती का मामा सामने से आया। उसने अपने घर ले जाकर इनका वडा स्वागत-सत्कार किया, और रास्ते के लिए खाना भी इनके साथ रख दिया।

रास्ते मे एक वृक्ष के नीचे सेठ तो सो गया और वहू खाना खाने लगी। इतने मे एक कौआ वोला। शीलवती पक्षियों की भापा से परिचित थी। कौए की आवाज सुनकर उसने कहा—"भाई! क्यों रोते हो? तुम्हारे मन की वात मैं जानती हूं।" सेठ पड़ा-पड़ा ऊंघ रहा था। यह सुनकर उसे विश्वास होगया कि शीलवती पक्षियों की भापा जानती है। कौआ फिर वोला तो शीलवती ने कहा—"पहले

एक की बात सुनकर तो मुझे पति-वियोग का दुःख सहने की नौबत आई है, अब फिर तेरा चिल्लाना सुनकर कुछ करने जाऊँ तो पिता से मिलने जा रही हूँ उसमें भी विघ्न पड़ जायगा।" यह सुनकर ससुर ने उससे यह बात कहने का कारण पूछा। तब शीलवती ने बताया, कि "कितनी ही बार ऐसी बातें भी दोष-रूप हो जाती हैं, जो सच पूछो तो गुण ही हैं। सृष्टि मे प्राणियों को अनेक बार अपने सद्गुणों के लिए ही सज़ा भोगनी पड़ती है। बचपन मे मैंने पशु-पक्षियों की भाषा सीखी थी, उसके कारण मुझे उनके सुख-दुःख का पता चलता है और दया से प्रेरित होकर मैं बहुत दफ़ा उनकी मदद करने को तैयार होती हूँ।"

शीलवती का यह स्पष्टीकरण सुनकर सेठ को अपनी ग़ल्ती मालूम हो गई। उसके लिए उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसने बहू से क्षमा माँगी। शीलवती ने नम्रता के साथ कहा—"आप मेरे बड़े और पिता के समान हैं। मुझसे क्षमा माँगकर, मुझे लज्जित न करें। आप सोरहे थे और मैं घड़ा लेकर बाहर गई थी, उस समय मैंने एक लोमडी की आवाज सुनी थी। वह कह रही थी कि एक मुरदा आया है जिसके शरीर पर लाख रुपये के गहने हैं। अतः मैं वहाँ गई और उस मुरदे के शरीर से लाख रुपये के गहने उतार कर ले आई। अब यह कौआ आपका खाना माँगता है और कहता है कि इस वट-वृक्ष के नीचे दस लाख स्वर्ण-मुद्रायें हैं।"

यह सुनकर सेठ ने अपना खाना देकर कौए की भूख बुझाई और अपनी तृष्णा-पूर्ति के लिए जमीन खोदना शुरू किया। ज़मीन खोदने

पर उसमें से सुवर्ण का कुम्भ (धड़ा) निकला। तब उसे शीलवती की बुद्धि का पता लगा और उसके मन में उसके लिए बड़ा आदर-भाव हो गया इसके बाद दोनों घर को लौट गये।

रास्ते में सेठ ने शीलवती से इस बात का पता लगाया कि उसने पहले सब प्रश्नों का उलटा जवाब क्यों दिया था। शीलवती ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा—"सात दरवाजों वाले शहर को मैंने इसलिए उजाड़ कहा कि जहाँ खूब आबादी होने पर भी कोई अपना आदमी न हो, उसे ऊजड़ ही समझना चाहिए। इसके विपरीत ऊजड़ और बहुत थोड़ी बस्ती के गाँव मे भी यदि अपने किसी आदमी का घर हो तो उसे बड़ा आबाद समझना चाहिए। उस इनी-गिनी झोंपड़ियों वाले गाँव में भी मेरे मामा ने आकर हमारा कितना स्वागत-सत्कार किया था, यह आपने देख ही लिया। बड़ की छाया मे मैं इसलिए नहीं बैठी, क्योंकि दरख्त की जड के पास सर्पादि जानवरों के आने की संभावना रहती है। उस सैनिक को कायर और नामर्द मैंने इसलिए कहा था, क्योंकि उसकी पीठ पर बहुत घाव थे, यदि वह सच्चा वीर होता तो पीठ पर नहीं उसकी छाती पर घाव होते। खेत के बारे मे आपकी बात में थोडा संशोधन करके यह कहा था कि यदि यह खेत पहले से ही खा न लिया गया तो निस्सन्देह अच्छी उपजवाला है। इसका कारण यह है कि किसान इतने गरीब होते हैं कि खेत में बोने के लिए बीज और अपने खाने के लिए नाज साहूकार से क़र्ज़ करके लाते हैं इससे फसल कटकर उनके घर आने से पहले उतना कर्ज उनके सिर चढ़ जाता है।"

इस प्रकार अपने सब व्यवहार का सन्तोषजनक उत्तर देकर शीलवती ने ससुर को प्रसन्न कर दिया। उसने उसे सच्ची गृह-लक्ष्मी माना और घर पहुँच कर उसकी बड़ी इज्जत करने लगा।

कुछ कालोपरान्त शीलवती के सास-ससुर का स्वर्गवास होगया। अब अजितसेन और शीलवती ही कुटुम्ब के वड़े बने। शीलवती की बुद्धि से उसके पति अजितसेन ने वहाँ के राजा के एक प्रश्न का बडा सन्तोषजनक उत्तर दिया, तब प्रसन्न होकर अजितसेन को राजा ने अपना मंत्री बना लिया।

इसके बाद शीलवती के सौन्दर्य और बुद्धि की प्रशंसा सुनकर राजा के मन मे विकार उत्पन्न हुआ। तब अजितसेन को तो किसी काम के बहाने उसने बाहर भेज दिया और अपने अधम मित्रों को शीलवती को फुसलाने के लिए भेजा पर शीलवती बड़ी पतिव्रता और बुद्धिमान थी। अपनी चतुराई से उसने उन चारों को क़ैद करके सन्दूक़ में बन्द कर दिया और राजा अरिमर्दन को उनकी दुर्गति बतलाई। तब राजा को विश्वास हो गया कि शीलवती सचमुच प्रथम श्रेणी की शीलवती (सदाचारिणी) है। और वह उसकी बड़ी इज्जत करने लगा।

शीलवती के दो पुत्र हुए। दोनों को उसने अच्छी शिक्षा दी। अपनी उत्तरावस्था में शीलवती ने संसार-त्याग किया और जैनियों मे ऐसी मान्यता है कि वह अभी भी पति-सहित पाँचवें देवलोक मे निवास करती है।

२१

महासती

सुलसा

जैन ग्रन्थों में दस महासतियों के पवित्र नाम गिनाये गये हैं, उनमें सुलसा का नाम सर्वप्रथम है।

बुद्धदेव और श्री महावीर-स्वामी की चरण-रज से अनेक बार पावन हुए राजगृह नगर मे सुलसा का जन्म हुआ था। राजा श्रेणिक उस समय राजगृह का अधिपति था।

नागसारथि नामक एक गुणवान् और समृद्धिशाली पुरुष के साथ सुलसा का विवाह हुआ। सुलसा पर उसका बहुत प्रेम था। सुलसा भी बडी पतिव्रता थी, सदा पति को प्रसन्न करने मे ही लगी रहती थी। उस समय भारतवर्ष के बड़े आदमियों मे एक स्त्री के मौजूद होते और भी अनेक स्त्रियों से विवाह करना एक 'फैशन' बना हुआ था, मगर इस दम्पति मे ऐसा दृढ प्रेम-सम्बन्ध था कि नागसारथि ने और विवाह हर्गिज न करने का निश्चय कर लिया था।

एक दिन नागसारथि कहीं बाहर जा रहा था, वहाँ देवकुमार-सरीखा एक सुन्दर बालक उसके देखने में आया। नागसारथि के कोई संतान नहीं थी, इससे उसको बड़ी मनोवेदना हुई। वह सोचने लगा कि जिस घर में अपने निर्दोष हास्य से खिलखिलाकर घर को

गुँजा देनेवाले वालक न हों वह घर नहीं, उजाड़ वन है। यह विचार उठते ही उसके मन में चिन्ता ने घर कर लिया, और इस चिन्ता से वह दिन-प्रति दिन सूखने लगा। सती सुलसा भला पति को उदास कैसे देख सकती थी ? वह समझ गई कि पति के हृदय में चिन्ता-रूपी काँटा चुभ रहा है, अतः प्रेमपूर्वक उसने कहा—"स्वामी। विंध्याचल सरीखे पहाड़ मे अकेले पड़ जानेवाले हाथी की तरह आप किस गहरे विचार में तल्लीन रहते हैं ? राज्यच्युत हुए राजकुमार की भाँति आपका कमल सरीखा मुँह श्याम क्यों पडता जाता है ? क्या श्रेणिक महाराज ने आपका अपमान किया है ? लोगों ने आपके विरुद्ध कोई षड़यंत्र रचा है ? आपकी चिन्ता का जो भी कोई कारण हो, आप मुझे भी तो बताइए।"

पत्नी से कोई भी वात गुप्त न रखतेवाले नागसारथि ने खुले दिल से अपनी चिन्ता का सारा हाल सुलसा से कहा। सुलसा समझदार थी। पति का शोक-निवारण करने के लिए उसने कहा—"आपको ऐसी मिथ्या चिन्ता शोभा नहीं देती। पुत्र-हीन मनुष्य नरक में ही जाय, ऐसा हमारे शास्त्रों में कहीं नहीं लिखा है। स्वर्ग-नरक तो मनुष्य को अपने कर्मों के फलस्वरूप ही मिलते हैं। चाहे जैसा गुणवान् पुत्र भी माता-पिता को स्वर्ग नहीं पहुँचा सकता, यह तो केवल अपना धर्म ही कर सकता है। अनेक पुत्रों से ही धृतराष्ट्र का गोत्र कमजोर पड़ गया, यह सव जानते हैं। यह भी हमें मालूम है कि साठ हजार पुत्र होने पर भी राजा सगर दुःख में ही मरा था। अलवत्ता यह सच है कि गुणवान् पुत्रों के द्वारा समझदार आदमी संसार को आगे वढ़ाते हैं।"

पत्नी की ऐसी बातों से नागसारथि को कुछ शान्ति तो मिली, किन्तु उसकी पुत्र-लालसा नहीं मिटी। उसने कहा—"प्रिये! तू जो कहती है वह सब ठीक है, पर संसारी आदमियों के लिए तो तीन ही स्थान विश्राम-रूप हैं—(१) प्रिय पत्नी, (२) विनयी पुत्र और (३) सब प्रकार उत्तम सत्सङ्ग। पुत्र के द्वारा माता-पिता अपने सदाचार एवं सद्गुणों की वृद्धि करते हैं, और यदि उसे सुशिक्षा द्वारा पोपित किया जाय उस पुत्र के द्वारा उनकी कीर्त्ति क़ायम रहती है।"

यह सुनकर सुलसा ने कहा—"प्राणनाथ! मेरी उम्र तो अब ज्यादा हो गई है। मैं नहीं समझती कि अब मेरे उदर से सन्तानोत्पत्ति हो सकेगी। अतः आप अपना एक विवाह और करलें। भगवान् आपकी आशा पूर्ण करेगा।"

परन्तु नागसारथि एक पत्नीव्रत था। सन्तान के ख़ातिर वह पत्नी को शोक पहुँचाकर दुःखी नहीं करना चाहता था। अतः दृढ़ निश्चय के साथ उसने कहा—"भगवान् मुझे पुत्र देना चाहेंगे तो वह तेरे ही गर्भ से होगा, नहीं तो मैं निःसन्तान रहने मे ही खुश हूँ।"

पति के ऐसे विचार सुनकर सुलसा को प्रसन्नता हुई, परन्तु उसने सोचा कि किसी-न-किसी प्रकार पति की इच्छा-पूर्ति तो होनी ही चाहिए। धर्म पर उसकी अटूट श्रद्धा थी। उसे विश्वास था कि धर्म-सेवन से कठिन-से-कठिन और असंभव से मालूम पड़नेवाले काम भी, शीघ्र साध्य हो जाते हैं। अतः दृढ मन से वह धर्माराधना और दान-पुण्य मे लग गई। यही नहीं प्रत्युत ब्रह्मचर्य, भूमि-शयन और आम्बिल तप आदि के द्वारा आत्म-संयम का भी उसने प्रयत्न किया।

उसकी धर्म-श्रद्धा इतनी बढ़ी हुई थी कि एक दिन इन्द्र ने भी उसकी प्रशंसा की। इन्द्र के मुँह से प्रशंसा सुनकर हरिणगमेषी देवता उसकी परीक्षा लेने के लिए सुलसा के घर आया। सुलसा ने साधु-वेश-धारी उस देवता का यथा योग्य स्वागत-सत्कार किया। साधु ने कहा—"मैंने सुना है कि तेरे यहाँ लक्षपाक तैल के घड़े हैं। हमारे कितने ही साधुओं की दवा के लिए हमें उसकी जरूरत है। अतः वह तेल मुझे दे।" सुलसा तैल का एक घड़ा ले आई, पर साधु ने उसे बखेर दिया। तब एक-एक करके जितने घड़े थे सब सुलसा ने ला दिये, पर साधु ने उन सब को फोड़ डाला। लेकिन इतने पर भी सुलसा का धीरज नष्ट न हुआ और उसने साधु पर कोई क्रोध नहीं किया। तब साधु-वेशधारी देवता सुलसा पर प्रसन्न हुआ और उसे बत्तीस गोलियाँ देकर कह गया, कि "इन गोलियों को खा, इनके सेवन से तेरे बत्तीस पुत्र होंगे।"

साधु के चले जाने पर सुलसा ने सोचा—"मुझे बत्तीस पुत्रों का क्या करना है, सपूत हो तो एक ही पुत्र बत्तीस के बराबर है। एक चन्द्रमा अन्धकार का नाश करता है, जबकि तारे बहुत से होने पर भी अन्धकार को नहीं मिटा पाते।" यह सोचकर बत्तीसों गोलियाँ उसने एक ही साथ खालीं। ब्रह्मचर्य तथा शुद्ध सात्त्विक आहार का सेवन तो वह बहुत पहले से ही करती थी। और यह सब जानते हैं कि बाँझपन दूर करने के लिए ये दोनों बातें अत्यन्त आवश्यक हैं। नियमित आहार और ब्रह्मचर्यमय एवं संयमी जीवन से शरीर की अनेक खराबियाँ दूर हो जाती हैं। फिर उसमें साधु की अनुभूत

उत्तम दवा भी मिल गई, और साथ ही भगवान का अशीर्वाद भी था। फलतः सुलसा गर्भवती हुई और बत्तीसों गोली एकसाथ खाने के कारण उसे गर्भ-पीडा बहुत होने लगी। आखिर हरिणगमेषी साधु को बुलाया गय। उसने कहा—"एक-एक करके खाने के बजाय बत्तीसों गोली एकसाथ खाकर तुमने भारी भूल की है। अब तो एक साथ बत्तीस पुत्र होंगे। जो होना था सो तो हो गया। अब तो मैं ऐसी कोशिश भर करता हूं, जिससे जहाँ तक हो तुम्हें ज्यादा कष्ट न हो।"

यथासमय सुलसा ने बत्तीस पुत्रों को जन्म दिया। नागरसारथी ने इस अवसर पर समारोह किया, जिसमे खूब दान-पुण्य किया गया, और बारहवें दिन पुत्रों का नामकरण-संस्कार हुआ। इसके बाद क्रमशः उन्हे लौकिक-पारलौकिक विद्याओं का भली भाँति ज्ञान कराया गया। युवावस्था को प्राप्त होने पर बत्तीसों पुत्र पिता की भाँति राज श्रेणिक के यहाँ नौकर हुए, और सेठ-साहूकारों की पुत्रियों के साथ उनके विवाह हुए।

इसके बाद राजा श्रेणिक की राजा चेटक से लड़ाई हुई। इस युद्ध मे सुलसा के बत्तीस पुत्रों को अपने अंग-रक्षक के रूप में वह अपने साथ ले गया। दुर्भाग्य से बत्तीसों पुत्र इस युद्ध में काम आये। राजा ने अपने मंत्री अभयकुमार के साथ उनके माता-पिता को जब यह खबर भेजी, तो नागरसारथि और सुलसा पर वज्रपात का सा आघात हुआ। खबर सुनते ही वे मूर्च्छित हो गये और होश आने पर हृदय विदारक विलाप करने लगे।

मंत्री अभयकुमार ज्ञानी था। उसने धर्म की बहुत सी बातें कह-

कहा कर दोनों को कुछ सान्त्वना दी और पुत्रों की सद्गति के लिए उनकी अन्त्येष्टि क्रिया पर ध्यान देने की सलाह दी।

श्री महावीर स्वामी इस समय चम्पानगरी मे उपदेश कर रहे थे। राजगृह जाता हुआ अम्वड़ नाम का एक साधु वहाँ आया, तो महावीर स्वामी ने उससे कहा—"अम्वड! तू राजगृह जा रहा है, वहाँ सती सुलसा रहती है; उससे मिलना और मेरा धर्मलाभ कहना।" इस पर से मालूम पड़ता है कि महावीरस्वामी के हृदय में सुलसा के लिए कितना आदर-भाव था।

महावीरस्वामी द्वारा की गई सुलसा की प्रशंसा पर स्वयं अम्वड़ को भी आश्चर्य हुआ, इसलिए उसकी श्रद्धा की परीक्षा करने के विचार से वह भेप वदलकर सुलसा के घर गया। सुलसा ने दासी के हाथ भिक्षा भिजवाई, यह देख अम्वड़ ने भिक्षा लेने में आपत्ति की और सुलसा के ही द्वारा अपने पैर धोये जाने का आग्रह किया परन्तु सती सुलसा ने यह वात मंजूर नहीं की। तव अम्वड ने ब्रह्मा का स्वरूप धारण कर शहर वाहर उपदेश देना आरम्भ किया। शहर के अनेक स्त्री-पुरुप उपदेश सुनने के लिए उसके पास जाने लगे। परन्तु श्रीमहावीरस्वामी मे अनन्य भक्ति होने के कारण सुलसा कभी वहाँ नहीं गई। इस प्रकार तरह-तरह परीक्षा करने पर भी जव सुलसा की श्रद्धा भंग नहीं हुई, तो अम्वड़ खुश हो गया और अपने असली रूप में उसके पास गया। उस वक्त सुलसा ने विधिपूर्वक उनका स्वागत-सत्कार किया। अम्वड़ ने सुलसा की वहुत प्रशंसा की और महावीरस्वामी का 'धर्म-लाभ' कहा। महावीरस्वामी का नाम

सुनने पर सुलसा के हर्ष का ठिकाना न रहा और एकदम खड़ी होकर करवद्ध भगवान की स्तुति करने लगी। तदुपरान्त भोजन कराकर अम्वड़ को विदा किया और आप फिर धर्म-कार्य मे लग गई।

अव सुलसा दिन में तीन वार पूजा करती, दो वार प्रति-क्रमण करती, सत्पात्र को दान देती, छट व अष्टमी आदि तिथियों को उपवास करके देह-दमन करती। उसका अनुसरण करके उसका पति नगरसारथि भी धर्म-पालन में अपना समय विताने लगा।

अपना अन्तकाल निकट देख सुलसा ने श्रीमहावीरस्वामी से 'आराधना' ग्रहण की और उसे हृदय में रखकर वह स्वर्ग सिधारी। जैनियों की मान्यता है कि सुलसा का जीवात्मा भविष्य में तीर्थंकर वनकर जन्म लेगा और मुक्ति प्राप्त करेगा।

२२

मूलतः परोपकारिणी

कृतराज-दुहितायें

प्राचीनकाल मे कृत नाम का एक राजा होगया है। उसके सात लड़कियाँ थीं। वे सब बड़ी सुन्दर और लावण्यवती थीं, परन्तु अपने पूर्व-जन्म के संस्कारों के कारण भोग-विलास तथा अन्य सासारिक प्रलोभनों की ओर उनका मन आकर्षित नहीं हुआ था। बाल्यावस्था से ही उन्हे वैराग्य होगया था, और राजमहल छोड़कर वे स्मशान में रहने लगी थीं।

एक बार राजकुमारियों से उनके सम्बन्धियों ने राजमहल छोड़कर स्मशान मे रहने का कारण पूछा। उसके जवाब मे एक राजकुमारी ने कहा—"यह संसार मिथ्या है, यह देह तो और भी व्यर्थ है। प्रियजनों का मिलना आदि जो सुख माना जाता है, वह स्वप्न के समान चंचल है। इस संसार मे सार-रूप सत्य वस्तु एक ही है, और वह है परोपकार। यह शरीर तो क्षणभंगुर है। अपने मानव-बन्धुओं, पशु-पक्षियों, वनस्पति इत्यादि की जितनी सेवा यह कर सके उतना ही यह सार्थक है। शरीर कितना ही सुन्दर क्यों न हो, यदि वह दूसरे किसी के काम न आवे तो निरुपयोगी है। अतः हम बहनों ने

निश्चय किया है कि जबतक जीवित रहेगी तबतक परोपकार करेंगी और अन्त में देह का इस प्रकार परित्याग करेंगी, जो मरने पर स्मशान मे मासाहारी प्राणियों के खाने के काम आ सके।"

शरीर के रूप-लावण्य के कारण मनुष्य को प्रलोभन मे फँसने के कैसे-कैसे अवसर आते हैं, यह बताने के लिए उसने एक दृष्टान्त भी दिया।

उसने बताया कि एक सुन्दर राजकुमार युवावस्था में ही घर-बार छोड़कर संन्यासी होगया। एक दिन एक साहूकार के यहाँ वह भिक्षा माँगने गया। वहाँ उसकी कमल-जैसी सुन्दर आँखें देखकर साहूकार की पत्नी के मन में विकार उत्पन्न हुआ। वह इस जवान साधु पर मोहित हो गई और कहने लगी—'महाराज! तुम तो बड़े सुन्दर हो, भला इस कोमल शरीर को संन्यास लेने की क्या जरूरत आ पड़ी ? तुम्हारे कमल-नेत्र की दृष्टि जिस स्त्री पर पड़े, उसे सच-मुच बहुत भाग्यवान मानना चाहिए।'

साहूकार की स्त्री के मन मे विकार उत्पन्न हुआ देख साधु को उसपर बड़ा तरस आया और अपनी सुन्दरता के लिए बडी ग्लानि उत्पन्न हुई। उसने सोचा, 'आह! इस सुन्दरता के लिए ही कुलीन स्त्री अपना सतीत्व नष्ट करने को लालायित हो रही है।' और देखते ही देखते अपनी एक आँख निकाल उस स्त्री के हाथ मे रखकर कहा—'माता! जिन आँखों का तुमने इतना बखान किया, वे तो मात्र लोहू की पुतलियाँ हैं, तुम्हें पसन्द है तो लो, अपने पास इसे रखलो। याद रक्खो कि दूसरी आँख भी ऐसी ही है।'

अव तो साहूकार की स्त्री को वड़ा पश्चात्ताप हुआ और वह साधु से वहुत-वहुत क्षमा माँगने लगी। साधु ने कहा—"माता! तुम्हें पछताने की कोई जरूरत नहीं, तुमने तो मुझपर उपकार ही किया है। नेत्र-हीन होने से अव मैं तपस्या अधिक अच्छी तरह कर सकूँगा; क्योंकि सौन्दर्य नष्ट हो जाने से मेरी धर्म-साधना में विघ्न डालने कोई न आयगा।"

यह दृष्टान्त सुनाकर राजा कृत की लड़की ने कहा—"जो शरीर इतना नाशवान है, जिसकी मोहकता क्षणमात्र में मिट जाती है, उस पर माया क्या रखना? यही सोचकर हम राजमहल का सुख छोड इस स्मशान में रह रही हैं, और इसी मे परमसुख मानती हैं।"

इन सातों वहिनों ने इस शुद्ध विचार से प्रेरित हो परोपकार में ही अपना समस्त जीवन व्यतीत किया और स्मशान में ही शरीर-त्याग किया था।

२३

'वन-लक्ष्मी'

कल्याणी

कल्याणी एक गरीब विधवा थी, जो प्राचीन काल से एक गाँव के बाहर छोटी-सी झोंपडी मे रहती थी। उसके एक छोटा पुत्र था—बस, उसी पर उसका सारा आधार था। वही इस गरीब विधवा का एकमात्र सर्वस्व था। उसीके साथ वह इस कुटिया मे रहती थी। जटिल इस बालक का नाम था। वह फूल-सरीखा सुन्दर, झरने के जल-जैसा निर्मल और आकाश के समान उदार था। बचपन से ही उसके सिर पर जटा निकल आई थी, इसीसे लाड मे माँ उसे जटिल कहा करती थी, और फिर यही उसका नाम पड गया।

कल्याणी मे अपने नाम के अनुरूप ही गुण भी थे। उसका कोमल हृदय कल्याण और स्नेह से ओत-प्रोत था। गृह-व्यवस्था मे भी वह बहुत-कुशल थी। उसकी झोंपडी गाँव के एक ओर बिल्कुल एकान्त में थी, मगर कल्याणी की व्यवस्था इतनी उत्तम थी कि उसके घर मे किसी वस्तु का अभाव महसूस न होता था। माँ-बेटे सुखपूर्वक उस कुटिया मे काल यापन करते थे। किसीकी हिंसा न करना, उन्होने अपना सिद्धान्त बना रक्खा था। फलतः जंगल के अनेक पशु-पक्षी झोंपडी के आगे क्रीडा किया करते और कल्याणी उन्हे नाज डालती

थी। कल्याणी ईश्वर-भक्त भी थी। सदा भगवान का नाम सुनाई देता रहे, इसके लिए उसने कई तोता-मैना भी पाल रक्खे थे। घर का काम-काज करते हुए उनके मुंह से भगवान् का मधुर नाम सुनने में कल्याणी को बड़ा आनन्द आता था।

कल्याणी की झोंपड़ी रास्ते के किनारे पर ही थी, इसलिए एक-दो मेहमान भी रोज उसके घर आ पहुंचते थे। कल्याणी उनका सत्कार करती। अतिथि लोग उसके स्वागत-सत्कार से इतने प्रसन्न थे कि उन्होंने उसका नाम ही 'वन-लक्ष्मी' रख दिया था। आसपास के गाँवों मे कल्याणी 'वन-लक्ष्मी' के नाम से ही प्रसिद्ध थी।

एक दिन एक वृद्ध ब्राह्मण वहाँ आया और बालक जटिल को खेलते देखकर पूछने लगा—"बेटा। 'वन-लक्ष्मी' का आश्रम कहाँ है?"

जटिल बड़े आदर के साथ उसे अपनी माँ के पास ले गया। कल्याणी ने उसके बैठने को कुशासन दिया और उसके बैठने पर पुत्र-सहित भक्तिपूर्वक उसे प्रणाम किया। वृद्ध ने आशीर्वाद देकर कहा—"बेटा वन-लक्ष्मी। चारों ओर तुम्हारे अतिथि-सत्कार की प्रशंसा सुनते हुए मैं आया हूं। आज जब इस रास्ते जा रहा था, तो विचार आया कि चलो वन-लक्ष्मी का आश्रम भी देखता आऊँ। इसीलिए आज यहाँ आया हूँ।"

वनलक्ष्मी ने आग्रहपूर्वक कहा—"महाराज। हमारे बडे भाग्य हैं कि आपने यहाँ पधार कर इस कुटिया को पवित्र किया। अब आज तो कृपाकर आप यहीं विश्राम कीजिए।"

वृद्ध ने यह बात स्वीकार करली। जटिल को चुपचाप पास खड़ा

देखकर कल्याणी से उसने पूछा—"वनलक्ष्मी। यह तुम्हारा पुत्र है?" कल्याणी ने कहा—'हाँ महाराज। यह आपका ही प्रसाद है।"

इस प्रकार वातचीत के वाद वृद्ध स्नान करने चला गया। पीछे से कल्याणी ने कुटिया के पूजा-स्थान मे ब्राह्मण के लिए पूजाका सामान तैयार किया। गंगाजल, गन्ध, पुष्प, तुलसी, धूपदीप, दूव आदि सव सामान थाली मे सजा कर रख दिया।

स्नानोपरान्त वृद्ध पूजा के आसन पर वैठा। इष्टदेव के स्मरण और पूजा करने के लिए उसे जिस-जिस वस्तु की आवश्यकता थी, वे सव कल्याणी ने ऐसी सरसता से यथास्थान रक्खी थी कि वृद्ध को वडा सन्तोप हुआ। उसने माता और पुत्र को वहुत-वहुत आशीर्वाद दिया और उन्हे 'अपराजिता' स्तोत्र का पाठ सुनाया। स्तोत्र का पाठ करते समय ब्राह्मण के नेत्रों से जल-धारा वह रही थी। कल्याणी का हृदय उसकी भक्ति देखकर खिल उठा।

पूजा समाप्त होने पर वृद्ध ने 'अपराजिता' अर्थात् रक्षा-कवच (तावीज़) वालक जटिल के गले मे वाँध दिया, और आशीर्वाद दिया, कि 'यह वालक जहाँ जायगा वहीं विजय प्राप्त करेगा।'

वातचीत मे ब्राह्मण ने जटिल की पढाई के वारे मे भी पूछा। जव उसे यह ज्ञात हुआ कि व्यवस्थित रूप मे उसकी पढाई का प्रारम्भ नही हुआ है, तो उसने कहा—"सामने के गाँव मे विश्वरूप मिश्र की शाला है, वहाँ वालक को भर्ती करा दो। वहाँ पंडितजी इसे व्याकरण, अलंकार और काव्य की शिक्षा देंगे।"

कल्याणी ने कहा—"जटिल तो अभी बिलकुल बच्चा है, जंगल में होकर गुरुजी के यहाँ कैसे जा-आ सकेगा ?"

ब्राह्मण ने कहा—"मैंने इसके गले में जो तावीज़ बाँधा है, वही इसकी रक्षा करेगा। साँप, शेर, चोर, डाकू कोई तुम्हारे बालक का बाल भी बाँका न कर सकेंगे। तुम किसी बात का डर मत करो।"

"जो आज्ञा" कहकर कल्याणी ने ब्राह्मण की चरण-रज माथे चढ़ाई और ब्राह्मण आशीर्वाद देकर विदा हुआ।

दूसरे दिन सवेरे ही कल्याणी जंगल के उसपार जाकर जटिल को गुरुजी के सुपुर्द कर आई। ब्राह्मण ने गुरुजी से कह दिया था, इसलिए उन्होंने बड़ी प्रसन्नता के साथ उसे पढ़ाने का भार अपने ऊपर ले लिया।

बालक की शिक्षा का सुन्दर प्रबन्ध देखकर कल्याणी एक बड़ी चिन्ता से मुक्त हो गई।

जटिल रोज सवेरे जल्दी उठता, सबक याद करके स्नान-भोजन से निवृत्त हो, उसपार गुरुजी के घर पढ़ने जाता, और सारे दिन वहाँ रहकर शाम को अपनी माँ के पास लौट आता।

एक दिन जटिल की शाला के बालक बातों ही बातों मे एक-दूसरे से पूछने लगे, कि 'तुम्हारे घर कौन-कौन है ?' किसी ने कहा 'मेरे माँ है, बाप है', और किसीने कहा 'मेरे इतने बहन-भाई हैं' आदि। इस प्रकार पूछते-पूछते जब जटिल की बारी आई, तो उसने कहा—"मेरे तो अकेली मेरी माँ ही है, और कोई नहीं है।" कामन्दक विद्यार्थी को यह बात कुछ अद्भुत मालूम पड़ी। उसने सोचा—"इसके घर मे और कोई पुरुष नहीं, तो बाजार से खाने-पीने का सामान

आदि कौन लाता होगा ? जरूर इसके और भी कोई होंगे, पर इसे मालूम न होगा।" पर जटिल ने कहा—"भाई। मुझे तो पता नहीं। मैंने तो आजतक और किसीको अपने घर मे नहीं देखा, फिर भी आज माँ से पूछकर कल तुम्हें ठीक-ठीक बताऊँगा।"

जटिल घर के लिए रवाना हुआ, तो रास्ते मे उसे बहुत डर लगने लगा। इतने मे एक वृद्ध पुरुष उसे मिला, उसे जटिल पर दया आई। वह जटिल को जंगल के इस पार तक पहुँचा गया।

जटिल माँ के पास पहुँचा, इतने मे सूरज छिप गया था। कल्याणी सायंकाल की आर्त्ती कर रही थी। जटिल ने भी सामने बैठकर भगवान की स्तुति की। यह उसका रोज का नियम था। अस्तु।

घर के सारे काम-काज से निबटने पर जटिल ने पूछा—"माँ! अपने कोई और भी है?"

बालक के इस निर्दोष प्रश्न का कारण माता न समझ सकी, तब जटिल ने कामन्दक के साथ हुई अपनी सारी बातचीत उसे सुनाई।

इसपर कल्याणी ने कहा—"बेटा! अपने और कोई नहीं, केवल एक दीनबन्धु है।"

जटिल ने पूछा—"माँ। दीनबन्धु मेरे क्या लगते है?"

कल्याणी—"बेटा। वह तेरे बड़े भाई होते है।"

जटिल—"वह कहाँ रहते हैं माँ?"

"बेटा। वह इस पृथिवी मे सब जगह विराजमान है। आकाश मे भी रहते है और पाताल मे भी रहते है। फल, फूल, घर, जंगल, सर्वत्र उनका निवास है। इस दुनिया मे ऐसी कोई जगह नहीं, जहाँ वह न रहते हो।"

जटिल—"तब तो वह हमारी झोंपडी में भी रहते होंगे न ?"

कल्याणी—"हाँ, भइया, वह यहाँ भी हैं।"

जटिल—"तब हम उन्हे देख क्यों नहीं पाते ?"

कल्याणी—"उन्हें देखने की इच्छा करने से उनसे नहीं मिला जा सकता। उन्हे देखने के लिए तो प्रयत्न करना पडता है। भला इन चमड़े की आँखों से उन्हे देखा जा सकता है ? उन्हे देखने के लिए तो दिव्य चक्षु चाहिएँ।"

जटिल—"माँ ! तुमने उन्हें देखा ?"

कल्याणी—"न बेटा, मैंने उन्हें नहीं देखा। मैं उन्हें पुकारती तो बहुत हूँ, पर वह दर्शन ही नहीं देते, फिर भी मैं यह जान सकती हूँ कि मेरी पुकार सुनकर वह आते अवश्य हैं। सुख-दुःख मे वह मेरा साथ देते है। दुःख से तंग आकर जब मैं घबरा उठती हूँ तब वही मुझे ढाढस बँधाते हैं।"

जटिल—"माँ ! तुम्हारी ये सब बडी-बडी बातें मेरी समझ में नहीं आतीं। तुम्हे तो एक बार मुझे मेरे बड़े भाई दीनबन्धु को बताना ही पड़ेगा। तभी मैं तुम्हारी बात सच मानूँगा।"

कल्याणी—"बेटा ! तू उन्हे बुलाना, बुलाने से ही वह आवेंगे।"

जटिल—"अच्छी बात है। मैं उन्हे बुलाऊँगा, चिल्ला-चिल्लाकर पुकारूँगा, फिर ?"

कल्याणी—"चाहे जिस तरह बुलाने से वह नहीं आयगे, जैसी चाहिए वैसी सच्ची आवाज देगा, तभी वह सुनेंगे।'

निर्दोष बालक ने पूछा—"सच्ची आवाज कैसी होती है ?'

तब कल्याणी ने सरल ढंग से उसे ईश्वर की भक्ति और उपासना का तरीका बतलाया, परन्तु इतना छोटा बालक भला भक्ति में क्या समझे? अतः उसने कहा—"माँ। तुम्हारी ये सारी बातें मेरी समझ में कुछ भी नहीं आई। मैं तो बड़े भाई दीनबन्धु को बुलाऊँगा जब वह मिल जायँगे तो तुम्हारे पास उन्हे पकड़ लाऊँगा, और उनसे कहूँगा कि तुम कैसे खराब बालक हो जो माँ के बुलाने पर भी नहीं आते।"

कल्याणी ने कहा—"बेटा। ऐसा मत कहो। वह तो सत्, पवित्र और मगलमय हैं। किसी भी प्रकार की कोई इच्छा किये बगैर एकाग्र चित्त से यदि तू उन्हे बुलायगा तो वह सुनेंगे और तुझे दर्शन देंगे।"

माँ की बात सुनते ही जटिल को रास्ते मे मिले हुए वृद्ध का स्मरण हो आया और माँ को विस्तार से सारी बात सुनाकर उसने कहा—"माँ। मैं इस पार आ गया उसके बाद वह बुड्ढा दीखा ही नहीं, पता नहीं कहाँ चला गया।"

यह वृत्तान्त सुनकर कल्याणी को भगवान की दया का खयाल आया और वह रोने लगी। वह सोचने लगी—"भगवान क्या बालक की सच्ची पुकार सुनेंगे? इसी तरह तो एक बार ध्रुव ने भगवान को पुकारा था, और तब उन्होंने उस निर्दोष बालक को दर्शन दिये थे। संभव है कि मेरे जटिल की रक्षा के लिए भी वही आये हों। मन मे यह विचार उठते ही उसने भक्तिपूर्वक भगवान को प्रणाम किया और जटिल से कहा—बेटा। अब जब कभी कोई सकट उपस्थित हो, तो अपने उन्हीं 'दीन-बन्धु' भाई को पुकारना। वह संकट से तुझे बचायेंगे।"

बातों ही बातों मे इस प्रकार बहुत रात बीत गई, तब भगवान का मधुर नाम जपती-जपती कल्याणी जटिल को गोद मे लेकर सो गई।

दूसरे दिन से उस जंगल में होकर जाते समय जटिल को किसी-न-किसी का साथ मिल जाता। उसके साथ बातें करते-करते जटिल का जंगल का भयंकर मार्ग कट जाता। यह अचरज की बात थी कि जंगल के पार होते ही जटिल का वह साथी गायब हो जाता, जटिल को फिर उसके दर्शन न होते थे।

जटिल इस प्रकार निर्भयता के साथ शाला जाने-आने लगा। गुरु के उपदेश से उसके ज्ञान मे बहुत वृद्धि हुई। रास्ते मे मिलनेवाले साथियों से अनुभव की बातें सुनकर उसकी बुद्धि बहुत तीव्र होगई। गुरुजी की शाला मे जितने बालक पढते थे उनमें जटिल का नम्बर अव्वल था। सब विद्यार्थी उसे बहुत चाहते थे और गुरुजी भी पढने मे उसका मन लगा हुआ देख कर बड़े प्रसन्न होते थे।

एक दिन शाला मे जटिल ने सुना कि तीन दिन बाद गुरुजी के पिता का श्राद्ध है; उस दिन हरेक विद्यार्थी को एक-एक चीज अपने घर से लानी होगी। किसी ने आटा तो किसी ने दाल, किसी ने घी, किसी ने शकर, इस प्रकार सबने अपना-अपना ज़िम्मा ले लिया। रह गया अकेला बेचारा जटिल। कामन्दक नाम के एक मसखरे बालक ने कहा—"अच्छा, तुम दही ले आना, जटिल।"

गुरुजी को यह सुनकर जटिल पर दया आ गई। उन्होंने कहा—"जटिल बेचारा अकेली विधवा का पुत्र है, वह भला दही कहाँ से लावेगा?"

कामन्दक ने कहा—"नही गुरुजी, ऐसी वात नहीं। यह एक दिन मुझसे कहता था कि इसके दीनबन्धु नाम का एक वड़ा भाई है।"

गुरुजी ने जटिल से कहा—"अरे! इतने दिनों तक तूने मुझसे तो अपने वड़े भाई की वात ही नहीं कही?"

जटिल ने कहा—"गुरुजी! वात यह है कि दीनबन्धु भाई को मैंने देखा एक दिन भी नहीं है।"

गुरु०—"तव वह कहाँ रहता है?"

जटिल—"मुझे मालूम नहीं, पर माँ ने कहा है कि वह आकाश, पाताल, जल, थल, पृथिवी मे सर्वत्र हैं।"

जटिल की वात सुनकर गुरुजी समझ गये कि उसके दीनबन्धु भाई कौन हैं। उन्होंने जटिल से पूछा—"तुम्हारी माँ ने किसी दिन उनको देखा है?"

इसके उत्तर मे जटिल ने माता के साथ हुई वातचीत, रोज जंगल मे से आते-जाते वह किस प्रकार दीनबन्धु को पुकारता है और किस प्रकार रोज़ जंगल मे उसे पहुचाने के लिए कोई साथी आता है आदि सब वातें विस्तार के साथ गुरुजी को सुनाईं। यह सब सुनकर उनको वडा आश्चर्य हुआ और उन्होंने कहा—"जटिल! आज घर जाते समय तू अपने वड़े भाई दीनबन्धु को वुलाना और कहना कि आज मैं तुम से वटोही के वेश मे नहीं मिलना चाहता, आज तुम मुझे अपना सच्चा स्वरूप वताओ। फिर वह तुझे किस रूप मे दर्शन देते हैं, यह कल मुझे वताना। फिर अपने उन वडे भाई से तू यह भी पूछना, कि गुरुजी के पिताजी के श्राद्ध मे दही ला देने का जिम्मा तुम लोगे या नहीं?"

'जो आज्ञा' कहकर जटिल ने गुरुजी के पाँव छुए, और आज्ञा लेकर वह घर को चल दिया।

रास्ते मे भयानक जंगल मे से गुजरते हुए उसके पैर कापने लगे। रोज की तरह आज भी उसने दीनवन्धु को पुकारा। थोडी देर में क्या देखता है कि उसके सामने एक साँवले रंग का वालक पैरों में झझरी पहने, मस्तक पर मोर पंख धारण किये, हाथ में वाँसुरी लेकर खड़ा हुआ मुस्करा रहा है। इस सुन्दर वालक को देखकर जटिल अवाक् रह गया और उसे प्रणाम करके पूछने लगा—"दीनवन्धु भाई। तुम आ गये? इतने दिन से मैं तुम्हें पुकार रहा था, पर तुम तो दिखाई ही नहीं देते थे।"

दीनवन्धु ने कहा—"भाई। जव-जव तूने मुझे पुकारा, तव-तव मैं तेरे पास आकर खड़ा हुआ हूँ।"

जटिल ने कहा—"वाह। मैंने तो तुम्हे कभी देखा ही नहीं।"

यह कहकर जटिल एक-टक दीनवन्धु के मधुर स्वरूप की ओर देखने लगा। उसके मुह से एक भी शब्द नहीं निकला और आँख की पलकें भी ज्यों-की-त्यों स्थिर रहीं। तव जटिल की भक्ति से प्रसन्न होकर दीनवन्धु ने कहा—"भाई। आज तू गुरुजी से उपदेश लेकर आया है। उपदेश विना किसीको ज्ञान नहीं होता।"

इसके वाद दीनवन्धु जटिल को जंगल के वाहर पहुचा आने के लिए उसके साथ गया। रास्ते मे जटिल ने गुरुजी के पिता के श्राद्ध की वात कही और पूछा—"भाई सा०। तुम उस दिन दही भेजोगे या नहीं?"

दीनवन्धु ने कहा—"अच्छा । अपने गुरुजी से कह देना कि दीनवन्धु उस दिन मेरे साथ दही भेज देगा।"

शाम को घर आने पर जटिल ने माँ को सब हाल बताया और कहा कि गुरुजी के पिताजी के श्राद्ध के सम्बन्ध मे बालकों ने किस प्रकार आपस मे काम का बटवारा किया था, उसके सिर किस प्रकार दही का जिम्मा आया, और किस प्रकार दीनवन्धु भाई ने दर्शन देकर दही का जिम्मा अपने ऊपर लिया । यह सब सुनकर कल्याणी को बडा आश्चर्य हुआ। वह कहने लगी—"जटिल ! तू क्या कहता है ? क्या सचमुच तूने दीनवन्धु को देखा है ? ठीक-ठीक बता, उनका कैसा रूप था ?"

इस पर जटिल ने दीनबन्धु के रूप का हूवहू वर्णन करके बताया। पर कल्याणी की समझ मे कुछ न आया, क्योंकि जटिल ने जिस रूप का दर्शन किया वह तो भगवान के रूप का वर्णन था। 'तो क्या इसको भगवान के दर्शन हो गये ?' उसे विश्वास न हुआ और वह सोचने लगी, कि वहुत संभवतः कोई दयालु आदमी इसे मिला होगा और जटिल उसीकी वात करता होगा। इसके वाद भगवान की असीम दया का स्मरण करके दोनों सो गये।

दूसरे दिन जटिल शाला गया तो देखा कि सब विद्यार्थियों ने अपने-अपने जिम्मे की चीज लाकर ढेर लगा रक्खा है। गुरुजी ने उन चीजों को भण्डार मे रख आने का आदेश किया। जटिल ने गुरुजी को प्रणाम किया, तो उन्होंने पूछा—"जटिल ! तेरे दीनवन्धु मिले थे क्या ? उन्होंने क्या कहा ?"

जटिल ने कहा—"हाँ, मिले थे, और समय पर वह मेरे साथ दही भेज देंगे।"

दही की व्यवस्था हो गई, यह जानकर गुरुजी निश्चिन्त हुए। फिर उन्होंने जटिल से पूछा—"जटिल! तेरे दीनवन्धु भाई कैसे थे?"

जटिल ने जब उनके स्वरूप का वर्णन किया तो गुरुजी को वडा आश्चर्य हुआ। फिर वह जटिल के मुंह से दीनवन्धु के स्वरूप का वर्णन सुनने लगे। आखिर उन्हे विश्वास होगया कि जटिल के दीन-वन्धु भाई और कोई नहीं, स्वयं भगवान है, वही दीन मनुष्यों के वन्धु-रूप मे जटिल और इसकी माता की रक्षा करते है।

आज गुरुजी के पितृ-श्राद्ध का दिन है। अनेकब्राह्मण भोजन के लिए निमंत्रित होकर आये हैं। परन्तु जटिल अभीतक दही लेकर नहीं आया। वालक उसका मजाक उड़ाने लगे, गुरुजी भी चिड-चिडाये, और ब्राह्मण भी अधीर हो उठे। सारा भोजन तैयार था, वस दही की ही देर थी।

आखिर ब्राह्मणों की अधीरता देखकर गुरुजी ने भोजन परोसना आरम्भ किया। उन्हे आशा थी कि परोसते-परोसते जटिल आ पहुचेगा, और यही हुआ भी। ऐन वक्त पर जटिल दही लेकर आ पहुंचा। दही एक छोटी हँडिया में था। 'इतने से दही से क्या होगा?' यह सोचकर गुरुजी जटिल पर वड़े नाराज हुए, उन्होंने जटिल का लाया हुआ दही उठाकर फेंक दिया।

जटिल वेचारा रोने लगा। ब्राह्मणों को यह देखकर दया आई। उन्होंने कहा—'इस वालक को मत रुलाओ, उसकी हँडिया मे जो

दही बचा हो उसमे से थोडा-थोडा हमको दो, उसीसे हमे सन्तोष हो जायगा।' इसपर गुरुजी ने जो हँडिया खोली तो देखा कि वह दही से ऊपर तक भरी हुई है। यह देख सबको बडा आश्चर्य हुआ।

दही ब्राह्मणों को परोसा गया। इस दही का स्वाद अपूर्व था। ऐसा दही ब्राह्मणों ने पहले कभी न खाया था। उन्होंने बार-बार दही माँगा, पर हँडिया खाली हुई ही नहीं।

भोजनोपरान्त ब्राह्मणों ने जटिल का हाल पूछा। उसके दीनबन्धु भाई की बात सुनकर सबको बडा अचरज हुआ। जटिल को आशीर्वाद देकर वे अपने-अपने घर गये।

विद्यार्थियों ने भी आज जटिल के साथ बैठकर भोजन किया, और जटिल का लाया हुआ दही तो उन्होंने बड़े स्वाद से खाया।

शाम होने लगी, तो विद्यार्थी अपने-अपने घर गये। गुरुजी ने जटिल से कहा—"चल जटिल। आज तेरी माँ के पास चलकर उन्हें प्रणाम कर आऊँ।"

गुरुजी ने अभी भोजन नहीं किया था। आज उनकी भूख-प्यास मर गई थी। उनके मन मे तो आज स्वर्गीय भाव रम रहे थे, उनका हृदय भक्ति की मस्ती मे झूम रहा था। जटिल को अपने साथ ले जाते हुए वह कहने लगे—"जटिल। आज तुझे अपने बड़े भाई दीनबन्धु को मुझे भी बताना होगा। मैंने आज पानी तक नहीं पिया है। तेरे दीनबन्धु मुझे खिलायँगे तभी मैं खाऊगा, नहीं तो अपने प्राण त्याग दूँगा।"

जटिल ने कहा—"गुरुजी ! यह कौन बडी बात है। वह तो इस जंगल मे ही आपको मिल जायँगे।"

जंगल में रोज की जगह पहुँचने पर जटिल ने दीनवन्धु को आवाज दी, पर उत्तर मे किसी ने कहा—"आज तो तू अकेला नहीं है, फिर डर क्या है? आज मुझे क्यों बुलाता है ?" जटिल ने कहा—"बड़े भाई आज मैंने गुरुजी को वचन दिया है कि मैं उन्हे तुम्हारे दर्शन कराऊँगा, अतः तुम्हे उनको दर्शन देने पड़ेगें।"

देखते ही देखते जटिल के सामने एक दिव्य ज्योति प्रकट हुई। उस ज्योति के प्रकाश से सायंकाल का अँधेरा नष्ट हो गया और जंगल जगमगा उठा। ज्योति में एक छायामूर्त्ति थी। जटिल ने कहा—"दीनवन्धु भैया! आज तुम्हारा यह कैसा रूप ? रोज तो तुम मुझे ऐसे रूप मे नहीं दिखाई पड़ते थे।"

छाया-मूर्त्ति ने जवाव दिया—"भाई! आज मेरा सच्चा स्वरूप है। लेकिन भक्त जिस भाव से मेरा ध्यान करता है उसी भाव मे मैं उससे मिलता हूँ।"

जटिल ने गुरुजी से दीनवन्धु के दर्शन करने को कहा। पर गुरुजी को केवल प्रकाश ही दिखाई पड़ता था। जटिल ने उन्हें वताया कि इस प्रकाश के अन्दर एक दिव्यमूर्त्ति विराजमान है, परन्तु उन्हे तो प्रकाश के सिवा कुछ भी दिखाई न पड़ा। जटिल ने दीनवन्धु से प्रार्थना की, तो उन्होंने वताया, कि "तेरे गुरु संसार के माया जाल मे फँसे हुए है, फिर आज उन्होंने तुझपर अविश्वास भी किया था, इसलिए वह मुझे नहीं देख सकते।"

लेकिन जटिल ने आग्रह किया कि वे गुरुजी को दर्शन दें।

गुरुजी जटिल को गोद मे लेकर बैठे। भक्त जटिल पर दही के

बारे मे अविश्वास करने और नाराज होने के लिए उन्हे पश्चात्ताप हुआ। शान्त और निर्मल चित्त से उन्होंने दीनबन्धु के दर्शनों की इच्छा की। तब थोड़ी देर मे उस दिव्य ज्योति के अन्दर गुरुजी को भी 'दीनबन्धु' के दर्शन हुए।

गुरुजी ने इस दर्शन से अपना जीवन सफल समझा और कहा—"दीनबन्धु। जब आपने इतनी कृपा की है तो मुझे एक सुखद दृश्य और बताओ। तुम दोनों भाई आज मेरे साथ चलो और अपनी माता को बताओ। आज मैं कल्याणीदेवी के दर्शन करके अपने जीवन को कृत-कृत्य करूँगा।"

दीनबन्धु ने कहा—"अच्छा। तुम जटिल को गोद में लेकर चलो, मै भी थोडी देर मे आता हूं।"

गुरुजी जटिल को लेकर कल्याणी की कुटिया पर गये।

इधर कल्याणी ने जब देखा कि रात हो गई, जंगल मे अन्धेरा छा गया, पर अभीतक जटिल लौटकर नहीं आया, तो वह बड़ी चिन्ता में पड गई। तरह-तरह की शंकायें उसके मन मे उठने लगीं। इतने मे गुरुजी की गोद मे जटिल आता हुआ दिखाई दिया। अब तो उसके स्नेहार्द्र हृदय में एक और शंका उठ खडी हुई, कि 'आज जटिल अपने पैरों चल कर क्यों नहीं आ रहा है, कहीं आज वह बीमार तो नहीं हो गया है?'

गुरुजी ने आकर जटिल को गोदी से नीचे उतारा और कल्याणी-देवी को चरण छूकर प्रणाम किया।

जटिल ने कहा—"माँ! आज मेरे दीनबन्धु भाई तुमसे मिलने के लिए आनेवाले है।"

"कब? कब आयेंगे, भइया, वह?" उत्सुकता से कल्याणी ने पूछा।

"यह आया माँ!" कहकर, दीनबन्धु प्रकट होकर कल्याणी के चरणों की रज लेने लगे।

कल्याणी ने दीनबन्धु का अलौकिक रूप देखा। उनके शरीर में लाखों सूर्य की ज्योति थी, उस तेज से कल्याणी की आँखें चकाचौंध होने लगीं। उसने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—"भक्तवत्सल भगवान्! अपना यह तेज बन्द करो। मुझपर दया कर पुत्र की तरह मेरे पास आये हो, तो जिस वेश में यशोदा के पास गये थे उसी वेश मे एक बार मेरी गोद में बैठो।"

तब दीनबन्धु गोपालनन्दन के वेश में कल्याणी की गोद मे बैठे। गुरुजी ने जटिल को भी उनके साथ माता की गोद मे बैठाकर एकाग्रता से भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और कहा—"माता! यशोदा के रूप मे आज कृष्ण-बलराम को तुमने अपनी गोद मे बैठाया है। इसी स्वरूप मे आज मेरा प्रणाम स्वीकार करो।"

× × × ×

जटिल क्रमशः सब शास्त्रों में पारंगत हुआ और कल्याणी जैसी माता के उपदेश और सलाह से संसार मे अपना यथायोग्य कर्त्तव्य-पालन करता हुआ उसने अपना जीवन यापन किया।

भारत के स्त्री-रत्न

[तीसरा भाग]

बुद्ध-काल

बुद्ध-धर्म का संक्षिप्त परिचय

बुद्ध-धर्म की स्थापना

बुद्ध-धर्म की स्थापना, आज से ढाई हजार से भी अधिक वर्ष हुए तब, महापुरुष गौतम बुद्ध ने, हमारी पुण्यभूमि भारतवर्ष में की थी। उनकी मृत्यु के बाद भी अनेक वर्षों तक यही धर्म हमारे देश का मुख्य धर्म रहा। भारत से बाहर चीन, जापान आदि देशो में तो आज भी लोग आमतौर पर इसी धर्म को मानते है और बुद्धदेव को जन्म देनेवाली इस पवित्र भूमि (भारतवर्ष) की यात्रा करने के लिए उन देशो से अनेक यात्री बडी श्रद्धा-भक्ति के साथ यहा आते है।

जैनियो के तीर्थंकर महावीर स्वामी के ही समय में, परन्तु उनके कुछ पश्चात् भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था। इस समय आर्यों का वैदिक धर्म विकार को प्राप्त हो चुका था। वेद और उपनिषद के उत्तम एव गहन सिद्धान्तो को समझने और तदनुसार आचरण करनेवाले उस समय थोडे ही रह गये थे, बाकी सब तो लकीर के फकीर ही बने हुए थे। कर्मकाण्ड, वितण्डावाद और जीव-हिंसा आदि निन्द्य कर्म करनेवाले अनेक हो गये थे। ऐसे समय भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ, जिन्होंने लोगो को उस मोह-निद्रा से जागृत किया। बुद्ध का अर्थ ही यह है कि जो मोह-निद्रा से सचेत हो गया हो, जिसे सच्चा बोध या ज्ञान प्राप्त हुआ हो।

बुद्ध का उपदेश

भगवान् बुद्ध का उपदेश यह था कि वैदिक यज्ञ-याग करने मात्र से धर्म नहीं होता, सच्चा धर्म तो इस बात में है कि सद्विचार रक्खे जायें

(२) **विचिकित्सा** (सशय)।

(३) **शीलव्रत परामर्श** (शील और व्रत को अहभाव के साथ मिलाकर उन्हीकी चिन्ता करते रहना। मतलब यह कि शील और व्रत का पालन करना है तो अच्छा, परन्तु हमेशा इन्हीकी चिन्ता मे लगा रहना हानिकारक है)।

(४) **काम**।

(५) **द्वेष**।

(६) **रूप-राग**।

(७) **अरूप-राग** (जिस स्वर्ग को हमने देखा नही है उसके सुख में आसक्त रहना)।

(८) **मान** (अभिमान)।

(९) **उद्धतपन** (उच्छृखलता)।

(१०) **अविद्या**।

इनमें प्रथम तीन 'सयोजन' का भग करनेवाला 'सोतापन्न' होता है, अर्थात् वह निर्वाण के प्रवाह मे पड जाता है। शेष 'सयोजन' भी निर्वाण के मार्ग में बाधक होते है, क्योकि वे मनुष्य को ससार के साथ साथ रखनेवाली जजीरे है।

इसके अलावा बौद्धधर्म में दस शील, दस शिक्षा और छ पारमितायें बताई गई है।

दस शील

(१) हिंसा न करना, (२) चोरी न करना, (३) असत्य न बोलना, (४) शराब न पीना, (५) ब्रह्मचर्य-पालन, (६) रात में भोजन न करना, (७) पुष्पहार, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ धारण न करना, (८) जमीन पर बिस्तर लगाकर सोना, (९) नाच और गाने-

बजाने से विरक्त रहना, और (१०) सुवर्णादि धातुओ.का परिग्रह न करना (अपरिग्रह)—ये दस शील हैं, जो साधुओ के लिए खास तौर पर पालनीय हैं, पर ६ से ८ तक के शीलो का सप्ताह में एक बार पालन गृहस्थ को भी करने के लिए कहा गया है ।

दस शिक्षा

दस शिक्षा इस प्रकार है—

(१) हिंसा न करना, (२) बिना दिये न लेना, (३) ब्रह्मचर्य-पालन, आर्थात् अपनी पत्नी के ही साथ विषय-सम्बन्ध रखना, (४) झूठ न बोलना, (५) चुगली न करना (६) उद्धतता या उच्छृखलता का व्यवहार न करना, (७) व्यर्थ बकवास न करना, (८) लोभ न करना, (९) द्वेष न रखना, और (१०) विचिकित्सा अर्थात् शास्त्र और परमार्थ के सम्बन्ध में सदेह का भाव न रखना ।

छ. पारमितायें

छ पारमितायें, आर्थात् ससार-सागर से तैरकर पार हो जानें के साधन, हैं—(१) दान-पारमिता (द्रव्य, विद्या, धर्मोपदेश आदि का दान), (२) शील-पारमिता (उपर्युक्त शील का पालन), (३) शान्ति-पारमिता (दु ख की पर्वा न करना और दूसरो के अपराध को क्षमा कर देना), (४) वीर्य-पारमिता (यह उत्साह रखना कि ससार के प्रलोभनो को जीतकर कल्याण-पथ पर अग्रसर होने की मुझ में शक्ति है), (५) ध्यान-पारमिता (धर्म और बुद्ध भगवान का ध्यान करना), (६) प्रज्ञा-पारमिता (ज्ञान प्राप्त करना) ।

स्त्रियों-सबंधी रुख

स्त्री-जाति के प्रति बुद्धदेव का बडा आदर था और समाज में स्त्रियो का सम्मान हो, यह उनकी इच्छा थी । छ दिशाओ की पूजा का रहस्य

कि बुद्धि की दुर्बलता के कारण पुरुषो की काम-वासना का शिकार होकर सत्पथ से गिरी हुई स्त्रियो का भी सुधार किया जा सकता है, और उनके जीवन का विशेष तिरस्कार न किया जाय तो, उनके हाथों भी समाज की अधिक लाभदायक सेवा हो सकती है ।

माद्री

यह माद्री पण्डु की पत्नी और नकुल-सहदेव की माता माद्री नहीं, प्रत्युत् बुद्धकाल की एक स्त्री-रत्न है। उस समय, शिविदेश मे संजय नामक राजा का राज्य था। उसके पुत्र का नाम था वेस्सन्तर। उसीकी यह पत्नी थी।

राजकुमार बड़ा पुण्यात्मा और दान करने मे मुक्तहस्त था। उसके राज्य मे सफेद हाथी थे और यह माना जाता था कि उन हाथियों के प्रताप से राज्य पर आक्रमण करके शत्रु सफल नहीं हो सकते। पर एक दिन कलिंग देश के आठ ब्राह्मण आये और उनके माँगने पर राजकुमार ने इन सफेद हाथियों को उन्हे दान कर दिया। प्रजा को जब यह मालूम पड़ा, तो वह बहुत नाराज हुई। उसे भय हुआ कि अब हमारे राज्य पर अवश्य कोई संकट आयेगा। अतः प्रजाजनों ने जाकर राजा संजय से पुकार की। उस समय के राजा बड़े न्यायी और निष्पक्ष होते थे, न्याय के सामने अपने-पराये का वे कोई विचार नहीं रखते थे। महाराज संजय को प्रजा की बात उचित प्रतीत हुई, और उन्होंने अपने पुत्र को देश-निकाले की सजा दे दी।

राजकुमार को जब पिता की यह आज्ञा मिली, तो उसने सात सौ वस्तुओं का महादान करने के लिए राजा से एक दिन का अवकाश मॉगा। इस तमाम दिन दानालय मे जाकर उसने अनेक बहुमूल्य पदार्थों का दान किया और रात होने पर सोचने लगा—"कल सुबह तो मुझे यह देश छोड़कर जाना ही है, अतः अभी जाकर माता-पिता से विदा क्यों न हो आऊँ? रातों रात मैं महल छोड़ दूँगा और फिर वापस नहीं आऊँगा।"

रथ पर बैठकर वह पिता के महल मे गया। इधर उसकी पत्नी माद्री मन-ही-मन सोचने लगी—"मैं भी फिर इस राजमहल मे नहीं आऊँगी। मैं भी क्यों न अभी सास-ससुर के चरण छूकर उनसे विदा ले आऊँ और पतिदेव के साथ ही चली जाऊँ?" यह सोचकर माद्री भी पति के साथ ही रथ मे जा बैठी।

वेस्सन्तर ने पिता के पास जाकर भक्तिपूर्वक उनके चरण छुए और कहने लगा—"प्रजा ने मुझे देश-निकाला दिया है। कल मैं वंक पर्वत की ओर चल दूँगा। पिताजी! मनुष्य मात्र लाभ-हानि, यश-अपयश, निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख इस आठ प्रकार के लोक-धर्म के अधीन है। इस दुनिया में जीवमात्र को कभी तो सुख और कभी दुःख भोगना पड़ा है, भोगना पडता है, और भोगना पड़ेगा। समस्त जीवन-पर्यन्त सुख ही सुख कोई भी मनुष्य कदापि नहीं भोग सकता। मृत्यु के मुख मे तो सबको एक-न-एक दिन जाना ही पड़ेगा, यह सोचकर इस सब दुःख के विचारों से मुक्त होकर सर्वज्ञता प्राप्त करने के उद्देश से मैंने अपने महल की सब वस्तु ऐसे लोगों को दान करदी

हैं जिन्हें उनकी आवश्यकता है, और उनकी प्रार्थनानुसार ही मैं इस राज्य का भी त्याग कर रहा हूँ। सम्पत्ति और विपत्ति से मनुष्य कभी भी सम्पूर्णतः मुक्त नहीं रह सकता, इसलिए अभी तो मैं शेर, चीते, रीछ आदि मनुष्य को फाडकर खा जानेवाले विकराल जानवरों से बसे हुए घोर वन मे गरीवी के साथ वास करूँगा, मगर मेरा ऐसा विश्वास है कि इस अरण्यवास मे ही मेरे हाथों कोई ऐसा कार्य होगा, कि जिससे मेरा प्रयोजन सिद्ध होगा।"

पिता के साथ इस तरह वातचीत करके वेस्सन्तर माता के पास गया और माता को सम्बोधन करके कहने लगा—"माँ। तेरे स्नेह और लाड़-प्यार का वदला मैं कभी भी नहीं चुका सकता। मैंने अपनी निजी सम्पत्ति दान करदी, यह वात प्रजा को वहुत अखरी है। इस पाप के कारण, मुझे देश-निकाला मिला है। अव मैं वंक-पर्वत पर जाकर गरीवी के साथ अपना जीवन विताऊँगा। माता! शुभ कामनाओं के साथ तुम मुझे विदाई दो।"

माता ने कहा—"वेटा! वंक पर्वत पर जाकर तू यती वनकर अभिज्ञान एवं समापत्ति प्राप्त कर। पर, मेरी इस कोमलाङ्गी वधू ने तो कभी भी ठण्ड और धूप नहीं सही है, घोर अरण्य इसके रहने लायक स्थान हर्गिज नहीं है। ज्ञान की शोध मे जानेवाले पति के साथ जाना इसके लिए उचित नहीं। भला अपने साथ इसे भी ले जाने की क्या जरूरत? पुत्र-सहित उसे तो घर मे रहने दे।"

"माता" वेस्सन्तर ने कहा—"अपने शरीर पर भी मेरी तो कोई सत्ता नहीं है, खासकर इस समय तो मैं ऐसी दशा मे हूँ कि अपने

खरीदे हुए गुलाम को भी अपने साथ चलने के लिए वाध्य नहीं कर सकता। माद्री अपनी खुद की इच्छा से मेरे साथ जंगल मे चलना चाहे तो भले ही चले, और यदि घर रहना चाहे तो सुखपूर्वक घर में रहे।"

मां-वेटे की वातचीत सुनकर राजा संजय भी वहां आ पहुँचे और माद्री से कहने लगे—"वेटी माद्री! तुम्हे तो राजमहल में रहकर चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ शरीर में लगाने की आदत है। जंगल में जाकर धूल से शरीर को विगाड़ डालने की इच्छा तुम क्यों करती हो? तुम तो काशी के वने वहुमूल्य वस्त्र पहरनेवाली हो, अव वल्कल वस्त्र धारण करने की अभिलाषा किसलिए करती हो? जंगल का निवास कोई वचों का खेल नहीं है। संसारत्यागी और दुःख भुगतने के अभ्यासी साधु सन्तों को तथा राज्य से सजा पानेवाले अपराधियों को भी वह अखरता है, तो फिर तुम्हारी तो वात ही क्या है। तुम तो शरीर और मन दोनों से दुर्वल हो, साधारण वात मे ही भयभीत हो जाती हो। जंगल तुम्हारे योग्य स्थान नहीं। अतः मेरी तो यह सलाह है राजकुमार के साथ तुम वहां मत जाओ।"

"आर्य।" माद्री ने कहा—"आप जो कुछ कह रहे हैं वह सव सच है, परन्तु स्वामी से अलग रहकर अपने शरीर पर तेल-फुलेल और चन्दन आदि का लेप करने, कोमल सुख-शय्या पर सोने, या काशी के वहुमूल्य वस्त्र पहरने की मुझे जरा भी इच्छा नहीं है। मैं तो अपने स्वामी के साथ धूलि-धूसरित रास्तों में फिरना, वल्कल धारण करना और कन्दमूलादि जो-कुछ मिले उसे खाकर जंगल में

ज़मीन पर ही सो रहना पसन्द करती हूँ। इसीमें अपना परमसुख समझती हूँ। इसलिए, मेरे लिए आप ज़रा भी फिक्र न करें।"

महाराज संजय ने अब दूसरा ढंग अख्तयार किया। माद्री को भयभीत करने के उद्देश से उन्होंने कहा—"बेटी। मेरी बात ध्यान देकर सुन। जंगल अपने राजमहल जैसा नहीं है, वहाँ तो ततैये, मधुमक्खी, बिच्छू आदि अनेक ऐसे जानवर हैं जिनके काटने से बड़ी वेदना होती है। मनुष्य को सारे-का-सारा निगल जायँ, ऐसे-ऐसे बड़े विषधर सर्प (अजगर) वहाँ रहते हैं। काले और बड़े-बड़े बालों वाले रीछ रहते हैं। उनकी एक बार नजर पडने भर की देर है, फिर चाहे वृक्ष पर ही क्यों न चढ जाओ, उनसे पीछा नहीं छूटता। नदी-किनारे सुई की नोक जैसे पैने सींगवाले जानवर रहते हैं। इतनी सब आफतों से तुम कैसे अपनी रक्षा करोगी? यहाँ महल मे बैठे-बैठे तो कई बार सियार की आवाज सुनकर ही तुम मूर्छित हो जाती हो, फिर वंक पर्वत पर जाना तुम्हारे लिए कैसे संभव है? दोपहर को इकट्ठे होकर पक्षी जो कलरव करते हैं, अरण्य मे से निकलनेवाली उसकी प्रतिध्वनि भी बडी भयंकर होती है। जिस वन मे भय के ऐसे अनेक कारण मौजूद हैं, वहाँ तुम भला कैसे रह सकोगी?"

"महाराज।" माद्री ने शान्ति पर दृढ़ता के साथ जवाब दिया—"आपकी बताई हुई सब आफतें भी मुझे अपने स्वामी के साथ वन मे जाने से नहीं रोक सकतीं। स्वामी के साथ वनवास में जो भी कष्ट उपस्थित होंगे, धीरज के साथ मैं उन सबको सहन करूँगी स्वामी की सुविधा का मैं पूरा ख्याल रक्खूँगी—यहाँ तक कि

कोमल बेल या घास का तिनका तक उनको न चुभने पाये, इसका प्रयत्न करूँगी।

"आर्य! स्त्री के लिए अच्छे पति का संयोग एक दुर्लभ वस्तु है। अच्छा पति पाने ही के लिए कन्यायें कर्त्तव्यपरायण होकर माँ-बाप की सेवा-टहल करती रहती है, सदाचार और पवित्रता के साथ नैतिकता का पालन करती हैं, और ध्यानपूर्वक अच्छे वस्त्राभूषण पहनती हैं। स्त्री-जाति के लिए पति-विहीन होना बहुत बड़ा दुःख है, यह जानते हुए भी आप पति के साथ न जाकर घर में रहकर विधवा का सा जीवन-यापन करने की सलाह मुझे क्यों देते हैं।

"एक और दृष्टान्त मैं आपके सामने रखती हूँ। पुलिन, द्वीप और सुन्दर तटवाली नदी होने पर भी उसमे जल न हो तो सब व्यर्थ है। कोई नगर ऊँचे-ऊँचे परकोटे, महलों, पहरेदारों, बाग़-बग़ीचों, सुन्दर-सुन्दर दरवाजों, बड़े-बड़े भव्य भवनों से सुशोभित हो परन्तु उसमें शासन करनेवाले (शासक) का अभाव हो, तो वह सब व्यर्थ है। मनुष्य धनी और कुलीन हो परन्तु विद्या का उसमें अभाव हो, तो धन और कुल दोनों व्यर्थ है। मनुष्य के शरीर पर लाखों रुपयों के वस्त्राभूषण हों परन्तु उसका चरित्र अच्छा न हो तो सब व्यर्थ है। इसी प्रकार किसी स्त्री के दस भाई हों पर पति न हो तो उसका जीवन वृथा है।

"एक उदाहरण और आपको बताती हूँ। जिस प्रकार रथ की शक्ति विजय-पताका है, अग्नि की शक्ति धुआ है, राज्य की शक्ति राजा है, मनुष्य की शक्ति विद्या है, उसी प्रकार स्त्री की शक्ति उसका पति है। कोई पतिव्रता स्त्री स्वामी के सुख-दुःख मे शामिल होती है,

तो देवता, ब्राह्मण और स्वयं इन्द्र भी उसकी प्रशंसा करते हैं। अव आपके पुत्र गेरुए कपड़े धारण करेंगे, इसलिए मैं भी उनके साथ ऐसे ही वस्त्र धारण करके सव ऋतुओं में उनके दुःख मे भागीदार वनती हुई उनके साथ-साथ ही रहूँगी। कोई हिंसक जानवर आयगा तो पहले मैं आगे वढूगी, ताकि पहले मैं मर जाऊँ। अकेले यहाँ रहकर तो मैं सारे राज्य का शासक भी नहीं वनना चाहती। हाँ, आपके पुत्र राज्य करते होते तो मैं जरूर उस राज्य-सुख मे भागीदार वनती। जो स्त्री सुख मे तो स्वामी के साथ रहे पर दुःख में उसका साथ छोड दे वह तो पिशाचिनी और राक्षसी के समान निकृष्ट है अतएव मै तो अपने स्वामी की सहचारिणी ही वनूगी।"

महाराज संजय ने कहा—"स्वामी की सुपत्नी के रूप मे उसके सुख-दुःख मे भागीदार वनने सम्वन्धी जो-जो युक्तियां तुमने दीं वे सव उचित ही हैं, इन सवको देखते हुए तुम्हें तो अव मैं जंगलमें जाने से न रोकूँगा। परन्तु फूल-जैसे ये दोनों वालक! इनके लिए तो अरण्य किसी भी प्रकार उचित स्थान नहीं है, इन्हें तो तुम मेरे पास ही छोड जाओ। तुमसे भी अधिक ध्यान और लाड़-प्यार के साथ हम इनका पालन करेंगे।"

"पिताजी!" माद्री ने कहा—"आपकी इन सन्तानों को मैं प्राणों से भी अधिक चाहती हूँ। वनवास के समय जव कभी नगर और राजमहल की याद आयगी तो उस दुःख के कारण मृतप्राय दशा हो जायगी। ऐसे समय इन सुकुमार प्यारे वालकों के मुँह देख-देखकर ही मैं अपना दुःख भुलाकर शान्ति प्राप्त करूगी।"

इतने पर भी राजा संजय का मन शान्त नहीं हुआ, क्योंकि अपने पोता-पोती के प्रति उसे बहुत स्नेह था। अतः एक बार फिर वन के दुःखों की, राजवैभव के जिस सुख मे उनका पालन हो रहा था उससे, तुलना की और माद्री से आग्रह किया कि उन्हे राजमहल में ही छोड़ जाय। परन्तु माद्री ने यही जवाब दिया—"आर्य। आप इनकी जरा भी चिन्ता न करें। आपके पोता-पोती की मैं अच्छी तरह देखभाल रक्खूँगी। मुझे जो भी खाने-पीने और पहरने-ओढने को मिलेगा वह पहले इन्हे देकर तब अपने लिए लूँगी। इन्हें किसी भी तरह की तकलीफ न हो, इसका मैं खास तौर पर ध्यान रक्खूँगी।"

ससुर राजा संजय और पुत्रवधू माद्री के बीच इस प्रकार वार्तालाप होते-होते सारी रात बीत गई और प्रभात होने लगा चार घोड़ों से जुता हुआ रथ महल के दरवाजे पर आकर राजकुमार की प्रतीक्षा करने लगा। तब माद्री ने विनीत-भाव से सास-ससुर के पैर छूकर उनसे विदा मांगी और दास-दासियों के साथ विदाई की थोडी मधुर बातें करके बालकों के साथ वेस्सन्तर से भी पहले रथ में जा बैठी। पश्चात् राजकुमार वेस्सन्तर भी बड़ी इज्जत के साथ अपने जनक-जननी की प्रदक्षिणा करके रथ में बैठा और रथ वंक-पर्वत की ओर चल दिया।

× × × ×

माद्री के जीवन का उत्तरार्ध भी बोधप्रद है। प्रातः स्मरणीया सीताजी के महान् चरित्र से पतिभक्ति का कैसा सुन्दर और उज्ज्वल आदर्श आर्य स्त्रियों के सामने उपस्थित हुआ है और संस्कारवान पति-

व्रता स्त्रियों के जीवन मे उस महान आदर्श की किस सुन्दरता के साथ पुनरावृत्ति होती रही है, यह माद्री के चरित्र पर से स्पष्ट मालूम पड़ता है।

पति के साथ वनवास करते हुए बहुत समय बीत चुका था। एक दिन सवेरे माद्री पति के लिए फल-फूल तथा कन्द-मूल लेने गई हुई थी कि जूजक नाम के एक ब्राह्मण ने आकर वेस्सन्तर से प्रार्थना की—"मैं वृद्ध ब्राह्मण हूँ। मेरी पत्नी को दास-दासी की आवश्यकता है। आप अपने पुत्र-पुत्री को प्रदान करदें तो मेरा घर जम जाय।"

वेस्सन्तर इन्कार करना तो सीखा ही नहीं था। उसने दोनों बालक तुरन्त ब्राह्मण को सौंप दिये। माद्री जब फल-फूलादि लेकर आश्रम मे लौटी तो बच्चों को न देखकर बहुत व्याकुल हुई और पति से पूछा, परन्तु वह मौन व्रत लिये हुए था। अतः रोती-कलपती हुई वह जंगल मे जाकर बालकों की खोज करने लगी। दूसरे दिन जब पति ने उनको दान मे देने का सारा हाल सुनाया तब इसे मालूम पड़ा। परन्तु शान्त-चित्तवाली इस सती ने सिर्फ़ इतना ही कहा—"आपने बालकों का दान किया, इसमे मैं आपसे पूरी तरह सहमत हूँ, परन्तु यह बात आपने कल ही मुझे क्यों नहीं कह दी?"

वेस्सन्तर के दान की प्रशंसा ऐसी बातों से चहुं ओर फैल गई। इन्द्र को भय होने लगा कि कहीं अपनी पत्नी को भी यह दान मे न दे दे। अतः एक बार साधु का वेश धारणकर वह इसकी कुटी मे गया और माद्री को दान में मांगा। वेस्सन्तर ने तत्काल साधुवेशधारी इन्द्र के हाथ मे पानी रखकर अपनी पत्नी माद्री का दान कर दिया।

तब इन्द्र ने अपना असली रूप धारणकर कहा—"पतिव्रता माद्रीदेवी अब मेरी हो चुकी है, पर अमानत के तौर पर मैं इन्हें तुम्हारे ही पास छोड़ जाता हूँ। इनका अच्छी तरह पालन करना और इस बात का ध्यान रखना कि अब तुम इनका दान करने के अधिकारी नहीं रहे हो।"

कुछ समय बाद जूजक ब्राह्मण के द्वारा महाराज संजय को राजकुमार के निवास-स्थान की खबर मिली और वह अपने अमात्य के साथ बंकपर्वत आकर पुत्र तथा पुत्रवधू को वापस ले गया।

कहते हैं कि वेस्सन्तर पूर्व-जन्म के बोधिसत्त्व थे और इस जन्म में प्रिय पत्नी एवं बालकों का दान करके उन्होंने 'दान-पारमिता' गुण का अभ्यास किया था।

माद्रीदेवी (मद्दी) का जीवन तो सचमुच बोधप्रद और प्रशंसा के योग्य है। इसके जीवन को देखते हुए, किसी अंश में, यदि हम इसे 'बौद्ध काल की सीता' कहें तो अत्युक्ति न होगी।

२

पति-अनुगामिनी

चुल्लबोधि-पत्नी

बोधिसत्त्व पूर्वजन्म मे एक बार काशी-राज्य के एक ब्राह्मण-कुटुम्ब मे पैदा हुए थे। इस जन्म का इनका नाम चुल्ल-बोधि था। इनकी पत्नी बड़ी सुशील थी। विवाह तो हो गया था, किन्तु पति की प्रवृत्ति वैराग्य की ओर थी, इससे इस तरुण विदुषी ने भी अपनी काम-वृत्तियों को अंकुश मे रखकर, पति की धर्म-साधना मे सहायक होने के उद्देश से, उसके व्रत मे बाधा नहीं पड़ने दी। आखिर जब चुल्लबोधि के माता-पिता की मृत्यु हो गई, तब उसने अपनी पत्नी से कहा—"भद्रे। हमारे पूर्वजों की इस अपार सम्पत्ति को तू ग्रहण कर और दानादि पुण्यकर्म करके सुख-पूर्वक इस घर में अपना जीवन-यापन कर। मैं तो अब गृहस्थाश्रम से ऊब गया हूँ, और परिव्राजक बनकर हिमालय पर निवास करना चाहता हूँ।"

"आर्यपुत्र।" उसकी पत्नी ने कहा—"क्या ऐसा कोई नियम है कि पुरुष ही परिव्राजक बनें और स्त्रियां नहीं ?"

बोधिसत्त्व ने कहा—"ऐसा कोई नियम तो नहीं है, परन्तु तू उच्चकुल में पैदा हुई सुकुमार स्त्री है, वनवास के दुःख तुमसे नहीं सहे

जायंगे, इसलिए मैं कहता हूँ कि तू इस घर मे रहकर ही दानादि पुण्य कर्म कर।"

बोधिसत्त्व ने उसे अपने साथ न चलने के लिए बहुतेरा समझाया, परन्तु सती स्त्री ने भावी दुःखों की कोई पर्वा न करके तपस्वी वेश धारण कर पति के मार्ग का ही अवलम्बन किया। इसके बाद कुछ समय तो दोनों ने फल-मूल खाकर हिमालय मे व्यतीत किया, पश्चात् भिक्षा मांगने के लिए काशी-राज्य मे आये।

काशीराज एक दिन बाग मे घूमने गये थे, वहां उन्होंने एक वृक्ष के नीचे बोधिसत्त्व को और दूसरे के नीचे उनकी पत्नी को देखा। स्त्री के रूप को देखकर राजा उसपर मोहित हो गये और बोधिसत्त्व की जरा भी पर्वा न करते हुए उस स्त्री को अपने महल में ले चलने का उन्होंने सिपाहियों को हुक्म दिया। राजमहल मे राजा ने स्त्री को प्रलोभनों द्वारा अपने वशीभूत करने का प्रयत्न किया, परन्तु भय या प्रलोभन किसीका भी इस पतिव्रता पर कोई असर नहीं हुआ। आखिर राजा ने भी बलात्कार से उसका सतीत्व नष्ट करने का विचार छोड दिया और उसको वापस बोधिसत्त्व के पास भिजवा दिया।

पति की उच्च-अभिलाषाओं का पोषण करने, दुःख मे पति की सहचारिणी होने और आपत्ति मे भी पतिव्रत-धर्म पर अटल रहने के लिए चुल्लबोधि-पत्नी की जितनी प्रशंसा की जाय थोडी है।

मायादेवी

बुद्ध-जननी मायादेवी कोलिया देश के राजा महासुप्रबुद्ध की ज्येष्ठ कन्या थी और देवदह नगर में इनका जन्म हुआ था। इनके जन्म-समय ब्राह्मणों ने भविष्यवाणी की थी कि इस कन्या के उदर से चक्रवर्ती कुमार का जन्म होगा। पिता के घर इन्होंने ऊँचे दर्जे की शिक्षा पाई थी, और अनेक सद्गुणों से इनका जीवन विभूषित हुआ था। कपिलवस्तु के पराक्रमी राजा शुद्धोदन के साथ इनका विवाह हुआ था। उन्होंने इनको अपनी पटरानी के स्थान पर आसीन किया।

मायादेवी में मिथ्या माया का लेशमात्र नहीं था। इनका रूप अपूर्व था और अज्ञान-रूपी अन्धकार का इन्होंने नाश किया था। प्रजा के साथ इनका व्यवहार माता के समान था, सदा उसके कल्याण मे ही तल्लीन रहती थीं। गुरुजनों के प्रति साक्षात् भक्ती-रूप बनकर उनकी आज्ञा का पालन करती थीं। थोड़े मे कहो तो, राजा शुद्धोदन के राजमहल तथा उनके समस्त राज्य मे मायादेवी मानों लक्ष्मी के समान थी। प्रजा भी उनके प्रति पूर्ण आदरभाव रखती थी एसा हो भी क्यों न, जब कि जिस महापुरुष के द्वारा समस्त जगत् का कल्याण होनेवाला था, जिसके द्वारा जगत् को सबके प्रति दया, मैत्री, करुणा

क्षमा आदि सदाचारों का संदेश मिलनेवाला था, उसकी माता होने का सौभाग्य विधाता ने उनके लिए निर्मित किया।

आषाढ़ी पूर्णिमा से पहले के सात दिन कपिल वस्तु मे एक महान् उत्सव प्रारम्भ होता था। मायादेवी सात दिन तक चन्दन-पुष्पादि से अपने शरीर को सज्जितकर बड़े आनन्द के साथ उत्सव मे शामिल होती। मायादेवी मे कोई व्यसन बिलकुल नहीं था शराब वह कभी भी नहीं पीती थीं, और आजीवन उन्होंने इस नियम का पालन किया था। अन्य क्षत्रिय स्त्री-पुरुप इस समय की प्राथानुसार इस उत्सव में मदिरा-पान करते, परन्तु मायादेवी सब तरह के मादक पदार्थों से अलिप्त ही रहती थीं।

एक साल इस पूर्णिमा के दिन मायादेवी न अन्धे-लूले आदि पराश्रितों तथा श्रमण ब्राह्मणों को खूब दान दिया और रात को बहुत-सा समय शास्त्र की कथा सुनने मे व्यतीत किया। इसी रात को सोते हुए इन्होंने स्वप्न देखा कि चारों दिशाओं के रक्षक देवता इन्हं उठाकर हिमालय पर्वत पर ले गये और वहाँ एक विशाल शाल-वृक्ष के नीचे इन्हें रख दिया। पश्चात् उन चारों देवताओं की स्त्रियों ने आकर दिव्य सुगंधित पदार्थों से मायादेवी को स्नान कराया एवं दिव्य वस्त्रालंकारों से सज्जितकर सुवर्ण-विमान मे एक बढ़िया पलंग के ऊपर पूर्व की ओर सिर करके इन्हें लिटा दिया। इसके बाद एक सफेद हाथी वहाँ आया और अपनी रुपहरी सूँड में एक सफ़ेद कमल लेकर उसने मायादेवी की तीन बार परिक्रमा की, फिर उसकी दाहिनी कोख मे होकर धीरे-धीरे उसके उदर मे समा गया।

सवेरा होने पर रानी ने राजा से स्वप्न की बात कही। राजा ने ब्राह्मणों व ज्योतिषियों को बुलाकर स्वप्न का वृत्तान्त बताया और उसका फल पूछा।

ब्राह्मणों ने कहा—"महारानी के पेट से एक महापुरुष का जन्म होनेवाला है। वह गृहस्थाश्रम में रहेगा तो चक्रवर्त्ती राजा होगा और संन्यासी होगा तो बुद्ध होकर जगत् का अन्धकार पूर करेगा।"

अब तो महारानी मायादेवी की इज्जत और भी बढ़ गई। राजा अत्यन्त प्रेम का व्यवहार करता और उनका बड़ा खयाल रखता।

मायादेवी गर्भवती हुई। स्वभाव तो उनका मूल से ही दयालु था, गर्भवती होने के बाद जन-साधारण के प्रति उनकी दया मे और वृद्धि होती गई। विषय-वासना का उनके हृदय से बिलकुल लोप हो गया। पति के प्रति प्रेम मे बहुत वृद्धि हुई। परन्तु पहले इस प्रेम में विषय-वासना का जो अंश था, वह इस अभिनव प्रेम मे नहीं रहा।

नौ महीने पूरे होने आये तब इन्हे पीहर जाने की इच्छा हुई। कपिल-वस्तु से देवदह जाते हुए रास्ते मे लुम्बिनी नाम के एक सुन्दर बगीचे में इनका पडाव रक्खा गया था। वहीं इन्हें प्रसव-पीड़ा हुई और वैशाख सुदी पूर्णिमा के दिन वहीं बोधिसत्व गौतमबुद्ध का जन्म हुआ। सिद्धार्थ उनका नाम रक्खा गया।

पुत्र के विशाल प्रभाव को देखकर मायादेवी हर्षोत्फुल्ल हो गई और सिद्धार्थ सात दिन का हुआ, इतने मे तो वह अमरत्व प्राप्त करने के लिए देवलोक को ही चली गई।

४

बुद्ध-विमाता

महाप्रजावती गौतमी

विमाता शब्द सामने आते ही साधारणतः हमारे मन में कुछ निरादर के से भाव उत्पन्न होते हैं, परन्तु बुद्ध-विमाता महाप्रजावती गौतमी ने अपने आचरण द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि विमाता मूलतः बुरी नहीं होती। विमाता के रूप में जो उज्ज्वल और उत्कर्षकारक आदर्श उन्होंने संसार के सामने उपस्थित किया है उसके कारण आज भी वह हमारे लिए अभिवन्दनीय है।

कोलिया देश की राजधानी देवदह (देव-हृद) नगर में, शाक्य-वंश के राजा महासुप्रबुद्ध के यहाँ इनका जन्म हुआ था। गौतम गोत्र होने से यह गौतमी नाम से प्रसिद्ध हुई है। पूर्वजन्म के सत्कर्मों के कारण, बाल्यावस्था से ही इनका स्वभाव बहुत अच्छा था। सदाचार और कर्त्तव्य परायणता इनके विशेष गुण थे। बुद्ध-जननी मायादेवी इनकी बड़ी बहन थीं। पैदा होते समय इन दोनों बहनों के शरीर पर शुभ चिन्ह दृष्टिगोचर हुए थे। ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्र के ज्ञाता विद्वान् ब्राह्मणों ने दोनों की जन्म-कुण्डलियाँ बनाकर भविष्यवाणी की थी कि इनकी सन्तान चक्रवर्ती राजा होगी, फिर वह चाहे मनुष्यों के पार्थिव राज्य के राजा हों या उनके हृदय-साम्राज्य के।

देवदह नगर के पास, रोहिणी नदी के किनारे, कपिलवस्तु नामक नगर में शुद्धोदन नाम के राजा का राज्य था। गौतमी और उनकी वहन मायावती इन दोनों का उसीके साथ विवाह हुआ था। वैशाख सुदी पूर्णिमा के शुभ दिन नैपाल की तराई में लुंबिनी नामक बगीचे के अन्दर मायावती ने बुद्धदेव को जन्म दिया, परन्तु इसके सातवें ही दिन मायादेवी की मृत्यु हो गई। राजा को अब बड़ी चिन्ता हुई। जिस पुत्र के लिए ब्राह्मण-ज्योतिषियों ने बड़ी-बड़ी आशायें बँधाई थीं, जिसमे असंख्य शुभ लक्षण बतलाये थे, उसकी माता सातवें ही दिन परलोकवासिनी हो गई।

राजा इसी चिन्ता मे लीन रहने लगे कि उसकी परवरिश के लिए अब ऐसी स्त्री कहाँ ढूँढी जाय, जो स्नेह परिपूर्ण, राग-द्वेष से रहित, चतुर, शान्त और मातृपद ग्रहण करने को तैयार हो। महाप्रजावती गौतमी के इसी समय नन्द नाम का लड़का हुआ था, इससे वह भी खाली नहीं थीं। मायादेवी की मृत्यु के बाद उन्हे 'अग्रमहिषी' 'महा-प्रजावती' और 'पटरानी' का पद प्राप्त हुआ था, इसलिए घर-गिरिस्ती की ज़िम्मेवारी भी बढ़ गई थी। परन्तु अपनी स्वर्गवासिनी बहन मायादेवी पर इनको निःस्वार्थ प्रेम था, फिर पति की परेशानी भी वह समझती थी। अतः यह उदार विचार करके कि बोधिसत्व-जैसे उज्ज्वल भविष्यवाले कुमार को परिवरिश करने और बड़ी बहन के प्रेम का बदला चुकाने का अवसर आया है तो उसे हर्गिज नहीं छोड़ना चाहिए, इन्होंने अपने पुत्र को तो एक विश्वस्त दाई के सुपुर्द कर दिया और बहन के पुत्र गौतम को अपना स्तनपान कराकर उसकी परवरिश

इसलिए इस समय भी साफ तौर पर उन्होंने यही जवाब दिया—"मेरे धर्म का रहस्य जितना पुरुष समझ सकते हैं उतना ही स्त्रियाँ भी समझ सकती हैं।" अब तो आनन्द को मौक़ा मिल गया। वह बोला—"यदि ऐसी बात है, तो आप महाप्रजावती देवी को किसलिए निराश करते है ? उनकी प्रार्थना क्यों नहीं स्वीकार करते ? उन्होंने ही आपका पालन-पोषण किया है, आपके ऊपर उनका बड़ा स्नेह है। उनके समाधान के लिए, आप ऐसा नियम कीजिए कि जिससे स्त्रियाँ भी परिव्राजक हो सकें।"

बुद्धदेव ने आनन्द की बात मानली और महाप्रजावती तथा उनके साथ आई हुई ५०० शाक्य-कुमारियों को परिव्राजिका बनाकर एक नये भिक्षुणी-संघ की स्थापना की। भारतवर्ष में स्त्रियों के अधिकारों के बारे में यह दिन सुवर्णाक्षरों से लिख रखने के लायक था। महाप्रजावती इस भिक्षुणी-संघ की प्रधान बनीं और बुद्धदेव ने भिक्षुणियों को धर्मोपदेश दिया। इनकी योग्यता देखकर कुछ समय बाद बुद्धदेव ने इन भिक्षुणियों को भिक्षुओं के अन्य अधिकार भी देकर स्वतंत्र कर दिया। इसके बाद इन्हे 'उप-सम्पदा' मिली। तब सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त होकर भिक्षुओं के मण्डल मे सब बातों मे मत देने का अधिकार इन स्त्रियों को मिल गया। महाप्रजावती तो पूर्वजन्म की संस्कृतिवान स्त्री थीं, अतएव बुद्धदेव के उपदेश से कुछ ही समय मे इन्हें समाधि-योग भी प्राप्त हुआ और एकाग्र चित्त से ध्यान-अनुष्ठान करके अलौकिक शक्ति एवं लग्न के द्वारा इन्होंने अर्हत पद प्राप्त किया। प्रोफ़ेसर कौशाम्बी के कथनानुसार, ईस्वी सन की चौथी शताब्दि मे गौतमी

द्वारा स्थापित इस भिक्षुणी-संघ का लोप हुआ। पर आजकल ब्रह्मदेव (वर्मा) में भी इस प्रकार की एक संस्था है जिसमे स्त्रियों को 'दस शीलधारिणी' उपासिका कहते हैं।

भगवान् बुद्धदेव जब जेतवन विहार में थे तब एक दिन उन्होंने प्रत्येक भिक्षुणी को उसके गुण और उसकी योग्यता के अनुसार दर्जा दिया था। इस अवसर पर गौतमी को उन्होंने सबकी प्रधान बनाया था और गौतमी ने कृतज्ञता के साथ बुद्धदेव के सम्मुख आत्म-ज्ञान एवं वैराग्य की सूचक बहुमूल्य गाथायें गाई थीं।

एक समय बुद्ध भगवान वैशाली नगर के पास महावन मे कुटागार नामक नगर मे थे और गौतमीदेवी वहाँ की भिक्षुणियों के उपाश्रय (उपासरा) मे रहती थीं। वैशाली नगर से भिक्षा लाने के बाद एक दिन गौतमीदेवी अपने विश्राम स्थान मे जाकर सोचने लगीं—"बुद्ध का 'परिनिर्वाण'—देह-त्याग, मुझसे नहीं देखा जायगा। इसी प्रकार उनके प्रधान शिष्य युगल, उनके अहर्निश सेवक आनन्द, मेरे पौत्र राहुल और पुत्र नन्दकुमार का देह-त्याग भी मुझसे कभी नहीं देखा जायगा। अतः इन सबसे पूछकर इनसे पहले ही क्यों न मैं अपना देह-त्याग करदूँ ?" यह सोचकर इन्होंने बुद्धदेव को अपने पास बुलवाया उनके आने पर, उनके चरणों मे पडकर, विनयपूर्वक इन्होंने उनसे देह-त्याग करने अर्थात् 'परिनिर्वाण' की आज्ञा माँगी। बुद्धदेव ने अपने स्वाभाविक कोमल पर गम्भीर स्वर मे कहा—"अब तुम्हारे देह-त्याग का समय आगया है, खुशी से तुम ऐसा कर सकती हो।" इससे बाद आनन्द आदि सेवकों को बोध देकर और भिक्षुणियों को

५

बुद्ध-पत्नी

यशोधरा (गोपा)

भगवान् बुद्धदेव की यशःकीर्त्ति तो दिग्दिगन्त है, उनके सर्वत्याग की बात सब जानते हैं, परन्तु उनकी पत्नी यशोधरा का मूक त्याग भी उनके उस सर्वत्याग से किसी दर्जे कम नहीं है। रामायण की उर्मिला हमारे सामने आत्म-त्याग का एक बहुत ऊँचा आदर्श उपस्थित करती है, जिसने पति लक्ष्मण के निर्दिष्ट भ्रातृ-सेवा के मार्ग मे बाधक न बनने के लिए चौदह वर्ष के भारी पति-वियोग को बिना किसी ननु-नच के शान्तिपूर्वक स्वीकार किया; परन्तु यशोधरा का मूक त्याग तो उससे भी ज्यादा जबरदस्त और सहानुभूति का प्रेरक है, जिसके सामने पति-वियोग की न केवल कोई निश्चित अवधि ही नहीं थी बल्कि जिसका पति संसार से नाता तोड़ते वक्त उसको सूचना देकर भी नहीं गया था। यही नहीं, दीर्घकाल के बाद जब वीतरागी भगवान्—नहीं-नहीं, यशोधरा के पति गौतम—बुद्ध-रूप मे उसके सामने आये, तो उनके बाद अपने सबसे बड़े आधार अपने प्यारे पुत्र राहुल का भी दान करके महीयसी यशोधरा ने अपने ऐसे महात्याग का परिचय दिया जिसकी मिसाल मिलना मुश्किल है।

यशोधरा के बारे मे विस्तार से जानने से पहले हमें उनके पति बुद्धदेव के बारे मे कुछ जान लेना आवश्यक है। कपिलवस्तु के शाक्यवंशी महाराज शुद्धोदन के पुत्र-रूप मे भगवान् बुद्धदेव का अवतार हुआ था। उनकी जननी मायादेवी उन्हें जन्म देकर ही मानों कृतकृत्य होकर मुक्ति पा गईं। शुद्धोदन की दूसरी रानी और मायादेवी की छोटी बहन नन्द-जननी महाप्रजावती गौतमी ने उनका पालन-पोषण किया। इसीलिए उन्हें गौतम भी कहते हैं, हालाकि उनका नाम वस्तुतः सिद्धार्थ रक्खा गया था। बुद्ध नाम उनके सिद्धि-लाभ का द्योतक है और सुगत, तथागत, अमिताभ आदि और भी अनेक नामों से आज वह पुकारे जाते हैं।

सिद्धार्थ मे बाल्यकाल से ही वीतराग के लक्षण प्रकट होने लगे थे। जन्मोपरान्त एक सिद्ध पुरुष ने उसे देखकर कहा था कि यह बालक किसी समय संन्यास धारणकर प्रसिद्ध महात्मा बनेगा। शुद्धोदन बहुत समय से अपुत्र था, बड़ी आशा-प्रतीक्षा के बाद वृद्धा-वस्था मे जाकर कहीं यह पुत्र हुआ था, अतः इस बात ने उसे बड़ी चिन्ता में डाल दिया। पुत्र को वैराग्य से दूर रखने के लिए आखिर उसने एक तरकीब सोची। पुत्र जैसें-जैसे बड़ा होने लगा, तरह-तरह के भोग-विलास के सामान उसके लिए जुटाये जाने लगे। किसी राग-रंग और आमोद-प्रमोद की कमी न थी। पिता का प्रबन्ध था कि जो कुछ स्वस्थ, शोभन और सजीव हो उसी पर पुत्र की दृष्टि पड़े। परन्तु बुद्धदेव तो बचपन से ही भावुक और विचार शील थे, इसलिए उन्हे वह सब भोगविलास नहीं रुचा। उस आमोद-प्रमोद

से दूर हटकर, एकान्त चिन्तन मे ही वह अपना बहुत-कुछ समय बिताते थे।

राग-रंग और उत्सव-समारोह तो होते ही रहते थे। एक बार, एक उत्सव में, भिन्न-भिन्न राजकुमारियों को आमन्त्रित करके राजकुमार सिद्धार्थ के हाथों उन्हे बहुमूल्य उपहार देने की व्यवस्था की गई। अनेक राजकुमारियाँ इस उत्सव में भाग लेन आईं और राजकुमार के हाथों उपहार.ले-लेकर चली गईं। कलिदेश के राजा दण्डपाणि की राजकन्या गोपा भी उत्सव मे आई, परन्तु उसकी बारी आई तबतक उपहार की चीजें समाप्त हो चुकी थीं। इसलिए औरों की तरह तुरन्त ही उपहार लेकर वह विदा न हो सकी। फलतः सिद्धार्थ की उसपर नजर पडी। सिद्धार्थ और गोपा की चार आँखें हुईं। दोनों ही की आँखें एक-दूसरे पर ठहर गईं, और थोड़ी देर तक दोनों ही मूर्त्तिवत् एक-दूसरे को देखते रहे। कुछ देर बाद सहसा गोपा चौंकी, शर्म के मारे उसकी आँखें नीची हो गईं और लज्जावनत होकर उसने कहा—"कुमार। मैं भी निमंत्रित होकर आई हूँ, क्या मुझे उपहार नहीं मिलेगा ?"

"क्यों नहीं ? तुम्हारा अपमान करने के लिए तुम्हे थोड़े ही बुलाया गया है।" गौतम ने कहा—"लो, सुवर्ण से परिपूर्ण यह अशोक-पात्र तुम्हें उपहार में देता हूँ, और इसके साथ-साथ अपनी अंगुली की अंगूठी भी।"

यह कहकर राजकुमार अपनी अंगुली से अँगूठी निकालने लगा, परन्तु गोपा ने उसे रोककर कहा—"न, आपका अलंकार मुझे नहीं चाहिए। यह उपहार ही मेरे लिए काफी है।"

उपहार लेकर गोपा धीरे-धीरे वहाँ से चली गई, परन्तु अपनी छाप वह गौतम पर छोड़ गई। गोपा का रूप देखकर और बातचीत से उसकी चतुराई का परिचय पाकर वह उस पर मुग्ध हो गया, उधर गोपा भी मन-ही-मन उसके प्रति आत्म-समर्पण कर अपने घर गई।

महाराज शुद्धोदन को जब राजकुमार के गोपा पर आकर्षित होने का पता लगा, तो उन्होंने महाराज दण्डपाणि के पास सिद्धार्थ-गोपा के विवाह की मँगनी भेजी, परन्तु राजकुमार सिद्धार्थ क्षत्रियोचित शौर्य, पराक्रम आदि गुणों की अपेक्षा अपनी विचार शीलता और तत्त्व-चिन्तन के लिए ही विशेष प्रसिद्ध थे, इसलिए ऐसे राजकुमार को अपनी लड़की देने में महाराज दण्डपाणि को संकोच हुआ। सिद्धार्थ ने जब यह बात सुनी तो तरह-तरह के व्यायाम, खेल, हथियार चलाने आदि क्षत्रियोचित गुणों में उच्च शिक्षा प्राप्तकर अपनी दक्षता भलीभाँति साबित कर दी। तब महाराज दण्डपाणि ने सहर्ष गोपा के साथ उनका विवाह कर दिया।

अपने इच्छानुकूल पति पाकर गोपा छाया की भाँति पति की अनुगामिनी बन गई। सुख-दुःख में वह सदा पति के साथ ही रहती। इस प्रकार दस वर्ष तक बड़े सुख मे दोनों ने अपना सांसारिक जीवन-यापन किया। गोपा जैसी सुशीला पत्नी का प्रेम प्राप्तकर गौतम की सारी चिन्तायें दूर होगई। दोनों ही आनन्द में विभोर हो अपने दिन बिताने लगे।

एक दिन गौतम सो रहा था, रात पूरी होने ही को थी, चन्द्रमा पश्चिम की ओर अस्त हो रहा था, पूर्व दिशा सूर्य की नवराशियो से

अरुणित होनेवाली थी, इतने मे एक मर्मभेदी संगीत सुनाई दिया। कोई गवैया एक गीत गा रहा था, जिसका आशय था—'इस संसार में अमर कोई नहीं है, मृत्यु सबके साथ लगी हुई है।' इस मर्मभेदी संगीत को सुनते ही गौतम की निद्रा भंग हो गई और वह गहरे विचार मे पड गया। अब तो इसी दिशा में—संसार की अनित्यता की ओर—उसका विचार-प्रवाह हो गया। यहाँ तक कि शिकार को जाते हुए भी यह विचार उठता कि 'स्वच्छन्द फिरनेवाले इस निर्दोष पशु को मारने का मुझे क्या हक है ?' यह सोच मारने के लिए चढ़ाया हुआ धनुष वापस खींचकर घर लौट आता। कितने ही किसान अपने स्वार्थ से प्रेरित हो बैलों को मारते, या उनसे इतना अधिक काम लेते कि जिससे उन बेचारों की कमर पर घाव पड़ जाते। यह देख गौतम को बडी दया आती। एक दिन सारथी के साथ रथ में जाते समय, एक वृद्ध को उसने देखा। इस पर उसे जिज्ञासा हुई कि मनुष्य बुड्ढा क्यों होता है, वृद्धावस्था में क्या दुख है, परवशता कितनी बढ़ जाती है ? यह सब सारथी से पूछकर यह भी उसने जान लिया कि मेरा सुन्दर और सबल शरीर भी एक दिन इसी प्रकार जीर्ण होगा। इसके बाद एक आदमी की लाश ले जाते हुए लोगों को उसने देखा। उस पर से उसे मनुष्य-शरीर की नश्वरता और क्षणभंगुरता का ज्ञान हुआ। फिर एक बार एक रोगी को रोग से तड़पते हुए देखा। उसके बारे मे पूछ-ताछ करने से मालूम पड़ा कि कुछ ही समय पूर्व वह बिलकुल ठीक था, पर अब इसे रोग लग गया है, उससे यह पीड़ित है; और तब उसने जान लिया कि रोग भी शरीर का एक धर्म है।

ज्यों-ज्यों गौतम ऐसे दृश्य देखता गया, उसके लिए आराम से सोना दूभर हो गया। गहरे विचारों में उसका मन डावाडोल होने लगा। एक दिन घूमने जाते हुए एक संन्यासी दृष्टिगोचर हुआ। गौतम उससे मिला और उसका क्या उद्देश है, किस कारण से उसने संन्यास-व्रत लिया है, आदि बातें मालूम करके मन-ही-मन उसने कुछ निश्चय किया।

विवाह के दस वर्ष बाद गोपा गर्भवती हुई। गौतम के पिता महाराज शुद्धोदन ने सोचा, प्रेम की इस दृढ शृंखला से सिद्धार्थ संसार से बँध जायगा और तत्त्वज्ञान की बातें सोचनी छोड़ देगा। परन्तु मनुष्य का सोचा कब पूरा हुआ है ?

गर्भावस्था मे एक रात कुछ स्वप्न देखकर गोपा चौंक पड़ी। भयभीत होकर उसने स्वामी को जगाया। गौतम ने जागकर उसे बहुतेरा आश्वासन दिया, परन्तु उसकी घबराहट शान्त न हुई। कुछ देर बाद जब किसी प्रकार उसकी घबराहट कुछ कम हुई तब उसने अपने स्वप्नों का हाल कहा। उसने कहा—"पहला स्वप्न तो मुझे यह दीखा कि एक सफेद सॉड़ है जिसके सींग फैले हुए हैं और मस्तक में चमकती हुई एक मणि है। भूमता हुआ वह नगर के दरवाज़े की ओर जा रहा था। किसीके रोके वह रुकता नहीं था। इतने मे इन्द्र-मंदिर से यह ध्वनि सुनाई दी, कि 'तुम यदि इसे नहीं रोकोगे तो नगर की कीर्ति चली जायगी।' परन्तु इतने पर भी कोई उसे रोक नहीं सका। तब रोती हुई मैं उस सॉड के गले से लिपट गई और उसे रोकने लगी। लोगों से मैंने नगर के द्वार बन्द कर देने के लिए कहा। परन्तु

साँड़ तो न रुका सो नहीं ही रुका। मेरे हाथ से वह बहुत आसानी से निकल गया और दरवाज़े के किवाड़ तोड़ द्वारपालों को पैरों से रौंदता हुआ चला गया।

"दूसरा स्वप्न मैंने यह देखा कि चार दिव्य पुरुषों ने, जो सुमेरु पर्वत पर रहनेवाले दिक्पाल जैसे मालूम पड़ते थे, असंख्य गणों के साथ आकाश से तेज़ी के साथ आकर नगर मे प्रवेश किया। उनके साथ इन्द्रपुरी के प्रवेश-द्वार का सुनहरी झण्डा टूट कर नीचे गिरा और उस स्थान पर एक तेजस्वी पताका प्रकट हुई। इस पताका में रुपहरी डोर से सिले हुए माणक गुंथे हुए थे, जिनकी किरणों से अपूर्व और अर्थपूर्ण शब्द बने, जिनको देखकर सब जीवित प्राणी हर्ष से उत्फुल्ल हो गये। सूर्योदय के साथ पूर्वी हवा चलने से वह पताका लहराने लगी, जिससे सबको वे शब्द स्पष्ट हो गये और अद्भुत पुष्पों की वृष्टि हुई।

"इसके उपरान्त, स्वामी। मुझे एक स्वप्न और भी भयानक दीखा। मैं आपके पार्श्व मे आने लगी तो आप नहीं थे; आपका खाली तकिया और झगा ही वहाँ थे। यह देख स्वप्न मे ही मैं उठ खड़ी हुई—और मेरी छाती के नीचे दबी हुई आपकी माला सर्प बन गई। पैरों के बिछुए निकल पड़े, हाथ के सुवर्ण-कंकण टूटकर गिर गये, केश मे गुथे हुए जुही के फूल रजकण हो गये और मेरी विलास-शय्या मानों जमीन मे धँस गई। इसके बाद दूर, बहुत दूर, उसी पहले के सफ़ेद साँड़ की आवाज सुनाई दी और वही जरी का झण्डा फहराया। 'आन पहुँचा है वह वक्त' की आवाज दुबारा सुनाई दी, जिसको सुनते ही मैं चौंककर उठ पड़ी।"

यह कहकर गोपा चौधार रोने लगी। गौतम ने तरह-तरह से उसको आश्वासन दिया और कहा—"प्रिये। मैं अनजान जीवों के दुःख से दुःखी होता हूँ, उनके लिए मेरी आत्मा तड़पती है, तो फिर तुम तो मेरी प्रियतमा हो। सारी दुनिया में चक्कर लगाकर आखिर तुम्हारे ऊपर ही तो मेरे सब विचार केन्द्रित होते हैं। जिन तीन बातों की मैं तलाश में हूँ, वे सब मनुष्यों के लिए है यह सच है, परन्तु उन सबसे अधिक तुम्हारे लिए हैं।"

इस प्रकार पति का आश्वासन पा पतिप्राणा यशोधरा सो गई, परन्तु स्वप्न की भीति उसके मन से बिलकुल दूर न हुई। नींद मे भी रह-रहकर स्वप्न के विचार उठते और 'आन पहुंचा है वह वक्त' 'आन पहुँचा है वह वक्त' कहकर वह चिल्ला उठती।

गोपा को आश्वासन दे सिद्धार्थ खुद भी सो तो गया, पर मन मे वह समझ गया कि पत्नी के स्वप्न हैं सही। क्योंकि संसार के प्रति उसकी आसक्ति सचमुच कम होती जाती थी और जगत् का उद्धार करने की इच्छा प्रबल हो रही थी।

राजकुमार के मन मे इस प्रकार क्रान्ति हो रही थी, इसी बीच यशोधरा ने एक सुन्दर पुत्र प्रसव किया। वह छोटा ही था कि सिद्धार्थ को कुछ ऐसे अनुभव हुए जिनसे संसार की नश्वरता की बात उसके मन पर और बैठ गई। एक रात यशोधरा राहुल को छाती से चिपकाये सो रही थी कि सिद्धार्थ को सहसा संसार की नश्वरता के विचारों ने घेर लिया और उसने गृह-त्याग का निश्चय कर लिया। पुत्र राहुल और प्रिय गोपा का स्नेह मोह-रूप मे सामने आया। सिद्धार्थ कई बार

ठिठका। एक वार सोते हुए पुत्र का आखिरी स्नेह-चुम्बन करने को भी व्याकुल हुआ, परन्तु उससे यशोधरा के जाग पड़ने का भय था और नव उसके प्रस्थान में एक वाधा और उपस्थित हो सकती थी, इसलिए, उसने अपनेको दृढ किया। वड़ी दृढ़ता के साथ आखिर उसने कहा:—

"रख अव अपना यह स्वप्न-जाल,
निष्फल मेरे ऊपर न डाल।
मैं जागरूक हूँ ले सम्हाल—
निज राज-पाट, धन, धरणि, धाम।
ओ क्षणभगुर भव, राम-राम!"

और यह कहकर वह उस 'क्षणभंगुर भव' से 'अमरता की खोज में' चल दिया, कि—

"हे राम, तुम्हारा वशजात
सिद्धार्थ, तुम्हारी भाति, तात,
घर छोड चला यह आज रात,
आशीष उसे दो, लो प्रणाम।
ओ क्षणभगुर भव, राम-राम!"

वौद्ध धम मे इस प्रसंग का वड़ा महत्व है और इसे 'महाभिनिष्क्रमण' कहा गया है। इसीके वाद सिद्धार्थ वीतरागी भगवान वुद्ध के रूप में संसार के समक्ष प्रकट होते हैं, परन्तु गोपा का महत्व भी तो मुख्यतः इसके वाद ही प्रकट होता है।

सुवह होते ही, वात की वात मे, सिद्धार्थ के गृह-त्याग की वात सर्वत्र फैल गई। राजमहल और नगरनिवासियों में हाहाकार मच गया। गोपा का तो पूछना ही क्या! जैसे ही वह जागी, स्वामी को

अपने पास न देख उसका माथा ठनका। सिद्धार्थ के हृदय-तल में जो गहरी उथल-पुथल मच रही थी उसका तो उसे पता था ही, अतः उसे निर्णय करते देर न लगी कि राजकुमार गृह त्यागकर अमरत्व की खोज में वनवासी हुए हैं। यह भी वह जानती थी कि एक-न-एक दिन यही होना था, और इस बात से भी वह अनजान न थी कि जगत के उद्धार के लिए ही सिद्धार्थ ने ऐसा किया है। फिर भी, नरी-हृदय का आवेग न रुक सका।

"आली, वही बात हुई, भय जिसका था मुझे,"

यह कहते हुए अपनी सखी से उससे कहा :—

"सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात,
पर चोरी-चोरी गये, यही वडा व्याघात।

× × ×

मुझको वहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना ?
मैंने मुख्य उसीको जाना,
जो वे मन में लाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

फिर पति-प्राणा स्त्री की भाँति उसने कहा :—

"जायें, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हो इस जन के दुख से,
उपालम्भ दू मैं किस मुख से? —
आज अधिक वे भाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।"

कठोर तपस्या कर रहा है, तो बहू को घर में बैठकर संन्यासिनी-व्रत पालन करना आपसे क्यों नहीं सहा जाता ?"

आखिर सास को चुप हो जाना पड़ा और गोपा पति की कल्याण-कामना करती हुई कठोर संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगी। हाँ यह विश्वास उसने बराबर बनाये रक्खाः—

"भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान,
यशोधरा के अर्थ है अब भी यह अभिमान।
× × ×
उन्हें समर्पित कर दिये यदि मैंनें सब काम,
तो आवेंगे एक दिन, निश्चय मेरे राम।"

वर्षों इसी प्रकार बीत गये। यशोधरा के मन में इसबीच क्या-क्या विचार नहीं आये होंगे, नित्यप्रति वृद्धिगत पुत्र राहुल की नानाविध जिज्ञासाओं ने रह-रह कर उसके मन मे कितनी हिलोरें मारी होंगी, परन्तु वह अपने निश्चय और विश्वास से विचलित नहीं हुई। निराशाओं के अनेक झोंके आये। महाराज शुद्धोदन ने पुत्र की बहुतेरी खोज कराई, फिर भी कोई पता नहीं लगा। लेकिन इतने पर भी यशोधरा का यह विश्वास नहीं डिगा, कि—

"भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान,
तो, आवेंगे एक दिन, निश्चय मेरे राम।"

गौतम ने छः वर्ष तक राजगृह के निकटवर्ती वन में और फिर गया के गम्भीर अरण्य मे तपस्या की। आखिर गया के निकटवर्ती एक वट वृक्ष की छायातले ध्यान करते हुए उसे अन्तर्ज्ञान प्राप्त हुआ।

अर्थात् जिस ज्ञान की वह खोज में था वह उसे मिल गया। उसके हृदय में सच्चा बोध हुआ, जिससे वह बुद्ध बन गया। इस समय ३५ वर्ष की उसकी उम्र थी। बुद्ध होकर अब उसने भिक्षु के वेश में सर्वत्र उस ज्ञान का प्रचार करना शुरू कर दिया, जो कि उसे वहाँ पर प्राप्त हुआ था।

इसके कुछ समय बाद अपने धर्म का प्रचार करते हुए बुद्धदेव एक दिन कपिल-वस्तु पहुँचे। विरहिणी यशोधरा बैठी हुई मन-ही-मन सोच रही थी कि—

"अब भी समय नही आया ?
कबतक करे प्रतीक्षा काया, जिये कहा तक जाया ?
होती है मुझको यह शका, क्षमा करो हे नाथ,
समय तुम्हारे साथ नहीं क्या, तुम्ही समय के साथ?
कहा योग मन भाया ?
अब भी समय नही आया ?"

इतनेमें एक दासी ने आकर खबर सुनाई—

"मिल गया, मिल गया, मिल गया सहसा
उनका अनुसन्धान आज, जिनके बिना यहा
खान-पान नीरस था, सोना बुरा स्वप्न था,
रोना ही रहा था हाय ! जीवन मरण था।"

उसने बताया—

"कुछ व्यवसायी यहा आये है मगध से।
वे ही यह वृत्त लाये, लोचनो के ही नही,
श्रवणो के लाभ भी उन्होने वहा पाये हैं।

× × ×

वर्षों तक प्रभु ने तपस्या कर अन्त में
सारे विघ्न पार किये × × ×
× × ×
अचल समाधि रही बाधायें विला गईं,
देवि, वह दिव्य दृष्टि पाकर ही वे उठे,
जिसमें समस्त लोक और तीनो काल भी
दर्पण में जैसे, उन्हे दीख पडे, सृष्टि के
सारे भेद खुल गये, चेतन का, जड का,
कोई भी प्रकार—व्यवहार नही जा सका,
दु ख का निदान और उसकी चिकित्सा भी
ज्ञात हुई। जन्म तथा मृत्यु के रहस्य को
जानकर देव स्वय जीवन्मुक्त हो गये।
और, धर्म चक्र के प्रवर्त्तन के साथ ही,
दूसरो को भी वे मुक्ति-मार्ग में लगा रहे।"

यशोधरा ने कहा—

"यदि यह सत्य है तो मै भी कृतकृत्य हू,
आज सुख से भी निज दु ख मुझे प्यारा है।"

कपिल वस्तु के सारे नर-नारी इस खबर से आनन्द से पुलकित हो उठे। उत्सव की तैयारियाँ होने लगीं। महाराज शुद्धोदन का पुत्र-स्नेह भी वाँसों उछल पड़ा। यशोधरा से उन्होंने कहा—

"उसने अपूर्व योग पाया है।
गोपा और गौतम का नाम भी जगत् में
गौरी और शकर सा गण्य तथा गेय हो।

अब क्यो विलम्ब किया जाय वेटी, शीघ्र तू
प्रस्तुत हो । यह रहा मगध, समीप ही,
उसके लिए तो हम जगती के पार भी
जाने को उपस्थित हैं और उसे पाने को
जीवन भी देनें को समुद्यत है—सर्वदा ।"

किन्तु यशोधरा तो वर्षों से इस विश्वास के सहारे ही जी रही थी कि—

उन्हे समर्पित कर दिये यदि मैंने सब काम,
तो आवेंगे एक दिन निश्चय मेरे राम ।"

× × ×

'भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान;
यशोधरा के अर्थ है अब भी यह अभिमान ।'

अ:त उसने वहाँ जाने से इनकार कर दिया। महाराज शुद्धोदन और महारानी प्रजावती गौतमी को आश्चर्य हुआ और उन्होंने बहुतेरा समझाया, परन्तु यशोधरा अपने निश्चय से विचलित नहीं हुई । उसे मूर्छा सी आने लगी तब महाराज शुद्धोदन बोले—

'बेटी, उठ, मैं भी तुझे छोड नही जाऊँगा ।
तेरे अश्रु लेकर ही मुक्ति-मुक्ता छोडूँगा ।
तेरे अर्थ ही तो मुझे उसकी अपेक्षा है ।
गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नही मुझको !"

इसके बाद महाराज शुद्धोदन ने बुद्धदेव के बुलाने के लिए दूत भेजे। परंन्तु जो-जो उन्हे लेने गये, वे सब उनके दर्शन और उपदेश से स्वयं संसार-त्यागी होकर उनके संघ मे दीक्षित हो गये। अन्त मे

मंत्री-पुत्र को भेजा गया, जो सिद्धार्थ का बाल्य-सखा था। वह भी भगवान् के संघ में प्रविष्ट हो गया, परन्तु प्रतिज्ञा कर आया था, इसलिए भगवान् को कपिलवस्तु चलने का आग्रह करना न भूला।

भगवान् कपिलवस्तु में आये। सर्वत्र उनके आगमन का समाचार फैल गया और झुण्ड-के-झुण्ड नर-नारी उनके दर्शनों को उमड़ने लगे। अपने राजपुत्र को उन्होंने भिक्षु के वेश मे रास्ता-चलते भीख माँगते और अपना धर्मोपदेश करते देखा। यशोधरा ने भी यह दृश्य देखा। जिस राजकुमार के शरीर पर हजारों रत्न-जवाहरात जगमगाते थे, जिसकी नित नई पोशाकें सिलती रहती थीं, संख्यातीत दास-दासी रात-दिन जिस की सेवा मे रत रहते थे, और जिसका सुन्दर रूप देखकर वह स्वयं मुग्ध हो गई थी, उसीको आज सिर मुण्डाये गरीब भिखमंगे के रूप मे देखकर यशोधरा अपने हृदयावेग को न रोक सकी। परन्तु आखिर वह सोचने लगी—"अरे! मैं रोती क्यों हूँ? क्या मुझे यह नहीं दीखता कि उनके चरण-कमलों से नगर जगमगा उठा है, उनके दर्शनों से नगरवासियों के चेहरों पर एक दिव्य-प्रकाश दृष्टिगोचर हो रहा है वेश-भूषा हीन होने पर भी उनकी मूर्त्ति अतुल जोतिर्मय है, उसके सामने राजा के तेज का क्या मूल्य? आज उन्होंने भोग-विलास छोड़ दिया है, सुख-दुःख से वह अतीत है, राज-वेश और भिक्षु-वेश का उनके मन मे आज कोई भेदभाव नहीं है; राजमहल के राजभोग और गरीब भिखमंगे की झोंपड़ी का सूखा साग-पात आज उनके लिए समान हैं। ओह, आज वह कितने महान्, कितने उच्च हैं! मुझे तो आज अपने स्वामी के

महत्व से अपनेको गौरवान्वित समझना चाहिए, न कि इस प्रकार मोहान्ध स्त्री की तरह रोना चाहिए ? यदि मुझमें इतना भी महत्व न हो तो फिर अपने को ऐसे महापुरुष की स्त्री समझना व्यर्थ है ।"

इसके बाद निमंत्रित होकर बुद्धदेव राजप्रासाद में आये—परन्तु वहाँ भी इस डर से यशोधरा उनके दर्शनों को सन्मुख न गई, कि कहीं इससे उनके संन्यास-व्रत में कोई बाधा न पड़े । आखिर भगवान ही उसके निकट गये । उन्होंने कहा :—

"मानिनी, मान तजो लो, रही तुम्हारी बान ।
दानिनि, आया स्वयं द्वार पर यह, वह तत्रभवान् ।
किसकी भिक्षा न लूं कहो मैं ? मुझको सभी समान,
अपनाने के योग्य वही तो जो हैं आर्त्त-अजान ।

× × ×

माना तब दुर्बल था, तुमको मैं तज गया निदान,
किन्तु शुभे, परिणाम भला ही हुआ, सुधा-सधान ।
यदि मैंने निर्दयता की तो, क्षमा करो प्रिय जान,
मैत्री-करुणा-पूर्ण आज मैं शुद्ध-बुद्ध भगवान ।"

यशोधरा के मानो भाग्य खुल गये । युग-युग की उसकी तपस्यायें सफल हो गईं । हर्षोल्लास में उसने कहा—

"पधारो, भव भव के भगवान !
रख ली मेरी लज्जा तुमने, आओ अत्रभवान !

× × ×

मेरे स्वप्न आज ये जागे,
अब वे उपालम्भ क्यों भागे ?

६

दुःख-विस्मरण का उपाय पानेवाली

किसा गोतमी

महाप्रजापति गोतमी तथा अन्य गोतमियों से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए इसे किसा अथवा कृष्ण गोतमी कहा गया है। यह नाम पड़ने का एक कारण यह भी है कि यह कृशाङ्ग (दुवली-पतली) और सुकुमार थी। कहते हैं कि पूर्व-जन्म में यह पद्मोत्तर बुद्ध के समय एक क्षत्रिय सामन्त के वंश में पैदा हुई थी। भगवान् को एक वार सादे वस्त्र पहननेवाली संसार त्यागी भिक्षुणियों की अत्यन्त प्रशंसा करते हुए सुनकर इसने अपने मन में संकल्प कर लिया था कि मैं भी किसी दिन भिक्षुणी-पद प्राप्त करूँगी। उस जन्म में तो इसकी वह अभिलापा पूर्ण नहीं हुई, परन्तु गौतम बुद्ध के समय श्रावस्ती के एक ग़रीव घर में इसका जन्म हुआ।

गरीव की लडकी होने के कारण, ससुराल में इसकी कोई कदर नहीं हुई। सव कोई अनादर की नजर से देखते थे। आखिर इसके एक पुत्र हुआ, तव इसकी कुछ पूछ हुई, परन्तु ग़रीव के भाग्य उलटे ही होते हैं। माता के सुख-सौभाग्य का एकमात्र आधार वह बालक एक दिन खेलने गया था, वहाँ उसे साँप ने काट लिया; और वह

निर्दोष हँसमुख बालक मर गया। अब तो बेचारी गोतमी के सुख का सूर्य ही अस्त हो गया उसे विश्वास हो गया कि संसार फिर मेरे लिए दुःखमय हो गया है। फलतः पुत्र की मृत्यु से उसके शोक का पार न रहा।

शोकावेग से वह पागल-सी हो गई और मरे हुए पुत्र को गोद में लेकर, मृत-संजीवनी-जैसी किसी औषधि की तलाश में, घर-घर फिरने लगी।

बुद्ध भगवान् इस समय अपने शिष्यों के साथ धर्म-प्रचार के लिए घूम रहे थे। गोमती ने उन्हें देखा और उन्हे इतर मनुष्यों से विशिष्ट मानकर, वह उनके चरणों मे गिर पड़ी। रो-रोकर अपना दुःख उसने भगवान् से निवेदन किया और उससे त्राण पाने के लिए वह भगवान् के निहोरे खाने लगी। बुद्ध ने बहुतेरा आश्वासन देना चाहा, पर पुत्र-वियोग मे विह्वल माता पर उसका कोई असर न पड़ा। आखिर बुद्ध ने कहा—"अच्छा, कहीं से यदि तू एक तोला राई ले आये तो मैं तेरे पुत्र को जिन्दा कर दूँगा। परन्तु, यह ध्यान रहे कि राई ऐसे ही किसी घर से लाई जाय, जहाँ कोई मरा न हो।"

भोली गोतमी भगवान् के इस आध्यात्मिक रहस्य को न समझ सकी और घर-घर राई की भीख माँगने गई। उसके हाल पर तरस खा राई देने को तो अनेक तैयार हुए, परन्तु ऐसा घर कोई न मिला कि जहाँ कोई भी न मरा हो। ज्यों ही इस बात को वह छेड़ती तो कहीं पिता के मरने की बात सुनाई देती, कहीं माता की,

और कहीं असमय मे ही वहन-भाई, वेटा-वेटी अथवा दास-दासी की मृत्यु का समाचार मिलता। फलतः सामने आई हुई राई उसे लौटानी पड़ती और वहाँ से वह दूसरे घर का रास्ता पकड़ती। आखिर हताश हो वह भगवान् के पास गई और कहा—"मैं तो सर्वत्र घूम आई। मुझे तो ऐसा कोई घर नहीं मिला जहाँ कोई-न-कोई मरा न हो। अब आप ही वताइए, मैं क्या करूँ और क्या नहीं।" तब भगवान् ने उसे उपदेश दिया और वताया कि संसार मे उसीपर यह दुःख नहीं पड़ा है। जन्म-मरण तो संसार का नियम ही है; और जब अकेली उसी पर यह दुःख नहीं पड़ा, तो फिर कोई वजह नहीं कि वही क्यों इसके लिए अपने मन की शान्ति खोदे ?

बुद्धदेव के इस उपदेशामृत से किसा गोतमी के ज्ञान-चक्षु खुल गये। उसके हृदय का शोक मिट गया और शान्तिपूर्वक उसने अपने पुत्र का अग्नि-संस्कार कर दिया। पश्चात्गृहत्यागकर बुद्धदेव की शरण चली गई। उनसे धर्मज्ञान प्राप्त करने लगी और वाद में थेरी-पद प्राप्त करके अन्त में 'अर्हत' पद पर पहुँची।

थेरी-गाथा में २१३ से २२३ तक के श्लोक इसके वनाये हुए हैं। उनमें कहा गया है—

"साधु पुरुष के साथ मित्रता करना हितकर है, क्योंकि साधुओं की संगति से मूर्ख भी पंडित हो जाते हैं। साधुओं के संसर्ग से प्रज्ञा वढ़ती है, और पाप एवं दुःख का नाश होता है। दुःख का हेतु क्या है और दुःख का तिरोभाव कैसे होता है, इसकी शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। आर्यों के चार सत्य और अष्टाङ्ग-धर्म को प्राप्त करो।

"मानवों के सारथि कह गये हैं कि स्त्री का जीवन दुःखमय है। सौत का सहवास, और गर्भावस्था आदि के कारण स्त्री-जीवन अत्यन्त दुःखमय है। इसी दुःख में कितनी स्त्रियाँ गले में फाँसी लगाकर मर जाती है। कोई जहर खा लेती हैं। किसी-किसी के गर्भ का बालक भी माता के साथ ही मृत्यु को प्राप्त होता है।"

इसके बाद संक्षेप में अपनी आप-बीती सुनाकर कहा है— कुल-हीन और पति-हीन बनी हुई मैंने आखिर अमृत-पद प्राप्त किया है। आर्यों के अष्टांग धर्म का चिन्तन करने से, धर्म के इस स्वच्छ आदर्श के कारण; आखिर मुझे निर्वाण-पद प्राप्त हुआ है। मेरे हृदय पर दुःख-रूपी पत्थर का जो बोझा था वह हलका हो गया है। मेरी करनी सफल हुई है। और मुक्त चित्त होकर मैंने आज यह गाथा गाई है।"

किसा गोतमी आज किस दुनिया मे है, यह तो भगवान् जाने; परन्तु इसके द्वारा संसार की अनित्यता का जो रूप हमारे सामने उपस्थित हुआ है, उससे आज भी हम शिक्षा ले सकते हैं। इस दृष्टान्त द्वारा भगवान् वुद्ध ने हमे बताया है कि कोई भी दुःख अकेले किसी एक ही पर नहीं पडता, और जब सभी पर एक-न-एक दिन वह दुःख पडता है तो फिर हमीं क्यों उससे दुःखी हों? इस रहस्य को हम हृदयंगम करलें तो संसार मे विभिन्न दुःखों से जो हम दुःखी रहते हैं, उससे वहुत-कुछ मुक्ति मिल सकती है।

७

बुद्ध को आशीर्वाद देनेवाली

सुजाता

उरुवेला प्रदेश में सेनानी नाम का एक जमींदार था। वह जिस गाँव मे रहता था, उसके नाम पर, उस गाँव का ही नाम सेनानी पड़ गया था। सुजाता उसकी प्रिय और रूपवती कन्या थी। सौन्दर्य और सद्गुणों का उसमें अपूर्व सम्मिश्रण था। सौन्दर्य में दूर-दूर तक वह अपना सानी नहीं रखती थी, फिर भी उसने कभी इसका अभिमान नहीं किया। विनय उसमें कूट-कूट कर भरा था। जहाँ सौन्दर्य से उसका शरीर दीप्तिमान् था, वहाँ अपनी मधुर और विनय-युक्त वाणी से भी वह सबको उत्फुल्ल करती थी। निर्दोष हास्य और उज्ज्वल हृदय की निर्मल शान्ति सदा उसके चेहरे पर झलकती थी। जो उसे देखता, उस समय के लिए तो अपनी चिन्ताओं को भूल ही जाता था।

जिस समय की यह बात है उस समय गायें मनुष्य की समृद्धि का मुख्य चिन्ह समझी जाती थीं। गौ-धन उस समय का मुख्य धन था। सेनानी के यहाँ भी बहुत-सी गायें थीं। सुजाता को उनसे बड़ा स्नेह था, और उनकी सार-सम्हाल भी वह खूब करती थी।

गाँव के निकट एक बट-वृक्ष था जिसमें वनदेवता के रहने की मान्यता प्रचलित थी। सुजाता की भी उसमें बड़ी श्रद्धा थी और उसने यह मानता की थी कि मुझे उपयुक्त वर मिलेगा तो पहला पुत्र होने पर मैं वन-देवता को दूध की खीर का नैवेद्य चढ़ाकर बडी भक्ति के साथ उनकी पूजा करूँगी।

कालान्तर में सुजाता की मनोकामना पूर्ण हुई। वयः प्राप्त होने पर, उच्च कुल के एक सदाचारी और गुणवान् पुरुष से उसका विवाह हुआ। जैसी सुजाता की अपने पति पर अपूर्व श्रद्धा थी, वैसा ही उसका पति भी उससे अत्यन्त प्रेम करता था। दोनों का जीवन सुखी था और दोनों ही सन्तुष्ट थे। कमी थी तो सिर्फ यह कि पति-पत्नी के प्रेम को पवित्र शृंखला से दृढ़ करनेवाला पुत्र अभी उन्हे प्राप्त नहीं हुआ था। पर इसके लिए भी उन्हे निराश न होना पड़ा। कुछसमय तक सुखी दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करने के बाद, सुजाता ने एक सुन्दर और तेजस्वी पुत्र प्रसव किया। अब तो पति-पत्नी के आनन्द की सीमा न रही। लेकिन, इस परमानन्द के बीच भी, सुजाता का कृतज्ञ-हृदय अपने वन-देवता को न भूला। और मनोरथ-सिद्धि हो जाने पर उसने पूरी उमंग के साथ वन-देवता के नैवेद्य-पूजन आदि की तैयारी की।

वैशाखी पूर्णिमा के दिन, बड़े सवेरे से वह वन-देवता की पूजा की तैयारी में लगी। अपने पिता के घर जाकर, उसने गायों को सम्हाला उसने ऐसा नियम बना रक्खा था कि एक हजार गायों को दुहकर उनका दूध पाँचसौ गायों को पिलाती, उन पाँचसौ को दुहकर ढाई

उसीपर चलती हूँ, विनम्रता के साथ सदा सतत-धर्म का पालन करती हूँ, और हृदय में यह अटूट श्रद्धा रखती हूँ कि मेरा भविष्य सुखमय होगा।"

सुजाता का यह जवाब सुनकर बुद्ध बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसके नैवेद्य एवं बोध की प्रशंसा करते हुए कहा—"बहन। मैं ऐसे ज्ञान की तलाश में निकला हूं जिससे समस्त संसार का शोक मिट सके। मैं चाहता हूँ कि जैसे तुम्हारी मनोरथ-सिद्धि हुई है ऐसे ही मेरी भी मनोकामना सिद्ध हो जाय। अतः जिसे तुमने ईश्वर समझ कर पूजा है, वही मैं तुमसे विश्व-कल्याण के लिए सिद्धिप्राप्ति का आशीर्वाद माँगता हूँ।"

इस प्रकार धर्म के विकास तथा अपनी सिद्धि के लिए बुद्ध ने सुजाता से आशीर्वाद माँगा और सुजाता ने 'तथास्तु' कहकर आशीर्वाद दिया। तब बुद्ध ने बालक को आशीर्वाद दिया और सुजाता को भक्तिपूर्वक प्रणाम करके विदा किया। इसके बाद ही उन्हें सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हुई और उसे प्राप्त करके वह बुद्ध बने।

बुद्ध ने जिसके आशीर्वाद की इच्छा की उस स्त्री का जीवन कितना उच्च और निर्मल होगा, यह समझना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। इसी लिए बौद्ध-साहित्य में सुजाता के इस कथानक का बहुत महत्व है और पवित्रता और कोमलता के एक विशेष भाव के साथ, हम सुजाता का स्मरण करते हैं। सचमुच ऐसी देवी धन्य है और हम सब के आदर के पात्र हैं।

सुप्रिया

समाज-सेविका सुप्रिया अनाथपिण्डद नामक एक प्रसिद्ध धनी व्यापारी की लाड़-प्यार मे पली हुई कन्या थी। इसके बारे में ऐसा कहा जाता है कि वे माता के उदर से उत्पन्न होते ही, कौतुक भरी दृष्टि से अपनी जननी की ओर देखते हुए इस बौद्ध गाथा का उच्चारण करने लगी थी। "बौद्ध लोगों को पुष्कल धन और खाने-पीने की चीज़े देकर सन्तुष्ट करो। और जहाँ-जहाँ पवित्र बौद्धस्थान हों वहाँ-वहाँ चम्पा के सुगन्धित फूल चढ़ाओ।"—यह उस गाथा का अर्थ था।

कुछ वर्ष बाद एक बौद्ध परिव्राजक (साधु) इनके घर भिक्षा माँगने आया। इस साधु का धर्मोपदेश-रूपी बीज सुप्रिया की उपजाऊ चित्त-भूमि में पड़ने के साथ ही अंकुरित हो गया और कुछ ही समय में उसने बढकर बड़े वृक्ष का रूप धारण कर लिया। कहते हैं कि किसी अद्भुत शक्ति के प्रभाव से यह अपने पूर्व जन्म का वृतान्त कह सकती थी। केवल सात वर्ष की आयु में महाप्रजावती गौतमी के हाथों इसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। इसके बाद तत्वज्ञानी के रूप मे तो इसकी प्रसिद्धि हुई कि, इसने अपना समस्त बहुमूल्य समय केवल तत्त्वज्ञान प्राप्त

आनन्दस्वामी ने स्नेहपूर्ण दृष्टि से उनकी ओर देखा और गुरुजनों की आज्ञा लेकर वहाँ से चल दिया।

सायंकाल विहार मे आये हुए भक्तों को भगवान् बुद्ध ने 'प्राणियों के दुःख एवं उसके कारण' विषय का उपदेश किया। इसके बाद उनके जाने से पहले बातचीत के सिलसिले में श्रावस्ती के दुर्भिक्ष का विस्तृत वर्णन करके सबसे इस संकट का निवारण करने का आग्रह किया।

अपने भक्तों को सम्बोधन करके भगवान् तथागत ने कहा—

—"तुममें से अनेक कुबेर के समान सम्पत्तिशाली हैं। मुझे विश्वास है कि तुममें से कोई एक आदमी भी चाहे तो इस दुर्भिक्ष-संकट को मिटा सकता है, ऐसा न भी हो सके तो भी सब मिलकर तो इस दुःख को जरूर ही मिटा सकते हैं।"

धनकुबेर रत्नाकर सेठ उठे और हाथ जोड़कर बोले—"भगवान्! श्रावस्ती कोई छोटा-सा नगर तो है नहीं, यह तो महाविशाल नगर है, इतने सब आदमियों के लिए अन्न की व्यवस्था करना मेरे बूते का तो काम नहीं है।"

बुद्धदेव ने सामन्तराज जयसेन को लक्ष्य करके कहा—"रत्नाकर सेठ से जो काम नहीं हो सकता वह, मुझे आशा है, आप कर सकेंगे।" पर जयसेन ने नतमस्तक होकर कहा—"भगवान्! आपसे कुछ छिपा नहीं है। मेरे तो अपने ही घर में आजकल अन्न का अभाव है, तब देश भर की अनाज की कमी मैं कैसे पूरी कर सकता हूँ? महाराज। बँधी मुट्ठी लाख की है।"

"ठीक !" बुद्धदेव ने हँसकर कहा।

इसके बाद एक दूसरे लखपति सेठ धर्मपाल से उन्होंने कहा—"वत्स ! मैं समझता हूँ कि तुम प्रयत्न करो तो संभवतः यह संकट मिट सकता है।" पर धर्मपाल ने नम्रता के साथ कहा—"भगवन् ! आपको तो मालूम ही है कि इस साल काफी अनाज पैदा न होने से यह अकाल पडा है। मेरे पास खेतों की तो बहुतायत है, परन्तु उन सब में नाज नहीं हुआ। मेरे लिए तो राज्य-कर देना ही भारी हो गया है, ऐसी हालत में इस विशाल नगर के भूखे लोगों को अन्न कैसे दे सकता हूँ ?"

"तब", भगवान् ने कहा—"क्या यहाँ ऐसा कोई नहीं है, जो चाहे तो इस भयंकर दुर्भिक्ष से अपने देशबन्धुओं की रक्षा कर सके?"

किसीने इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया।

भगवान् का प्रिय शिष्य लखपती अनाथपिण्डद इस समय वहाँ मौजूद नहीं था। बुद्धदेव ने एक बार सारी उपस्थित मण्डली की ओर दृष्टिपात किया। ऐसा जान पड़ता था कि उनकी पवित्र आँखें सभा में अनाथपिण्डद की ही खोज कर रही थीं, परन्तु वह तो वहाँ था नहीं।

बुद्धदेव शान्त भाव से अपने आसन पर विराजमान रहे। सबकी दृष्टि उन्हींकी ओर लग रही थी। पास बैठे हुए भिक्षु भी उत्सुकता के साथ उनके अन्य आदेश की प्रतीक्षा कर रहे थे।

बुद्धदेव ने एक बार फिर से उपस्थितजनों की ओर देखकर कहा—"तब यहाँ ऐसा कोई नहीं, जिसके प्रयत्न से देशवासियों की रक्षा हो सके ?"

"है।"—एक ओर से कोमल पर दृढ़ आवाज़ आई। उत्कण्ठा के साथ सबकी आँखें उसी ओर केन्द्रित होगईं और बुद्धदेव की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा।

"भगवन्। मैं आपकी दीन सेविका—मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य करने के लिए सदा तैयार हूँ।" एक तेरह वर्षीय बालिका ने धीरे-धीरे भगवान् के सामने आकर आहिस्ता से कहा—"यह अधम सेविका आपके आज्ञा-पालन के लिए अपने प्राण तक देने को तैयार है।"

उपस्थितजन कुछ तो स्तम्भित हो गये और कुछ उसकी बात को हँसी में उड़ाने लगे। आनन्द स्वामी ने गंम्भीरता के साथ सबसे शान्त रहने की प्रार्थना की। तदुपरान्त उस किशोरी की ओर देखकर धीरे स्वर में बुद्धदेव ने कहा—"बेटी। तू तो अभी बालक है। तेरे प्रयत्न से इस विशाल महानगर के अन्न की अभाव-पूर्त्ति कैसे होगी?"

"होगी और अवश्य होगी।" तेजोगर्वित स्वर में उस बालिका ने कहा—"भगवान् का अनुग्रह होगा तो यह बालिका नगरवासियों को दुर्भिक्षपीड़ा से अवश्य मुक्त करेगी।"

कुछ देर तक स्थिर दृष्टि से भगवान् की ओर देखते रहने के बाद, बालिका ने कहा—'प्रभु। आपही कहिए कि लोगों के कष्ट-निवारण के लिए धनिकों की ओर से कोई प्रयत्न न हो तो क्या इस कारण देश का यह कष्ट कभी भी दूर ही न होगा? और कोई दया-भाव न दरसावे, तो क्या माता भी अपने भूखे मरते बालकों पर दया दिखाने में संकोच करेगी?"

"बच्ची !" भगवान् ने कहा, "एक बालक का पालन करने की बात नहीं है, यहाँ तो देश की करोड़ों सन्तानें भूखी बिलबिला रही हैं। एक माता के प्रयत्न से उन सब बालकों की भूख कैसे मिट सकेगी ?"

बालिका ने फिर भी पहले के सामन ही दृढ़ता से कहा—"मिट सकती है और जरूर मिटेगी।" इसके बाद अपने हाथ मे का भिक्षा-पात्र बताकर बोली—"भगवन। आपकी कृपा होगी तो मेरा यह भिक्षा-पात्र सदा भरा हुआ ही रहेगा। जो धनी आपके आज्ञा-पालन से विमुख हो रहे हैं उनके भण्डारों मे मेरा यह भिक्षा-पात्र भरने की सामग्री का कोई अभाव नहीं है। मैं उनके घरों से भिक्षा लेकर आऊँगी और ग़रीबों को खिलाऊँगी, इस प्रकार दुर्भिक्ष-पीडितों के लिए अन्न की अभाव-पूर्ति होगी।"

आनन्दस्वामी के हर्ष का ठिकाना न रहा। वह अपने आसन से उठे और बालिका को आशीर्वाद देते हुए बोले—"मातृ-रूप बालिके! भगवान अमिताभ (बुद्ध) तेरी कामना पूर्ण करें।" भगवान् बुद्ध ने भी आशोर्वाद देकर उसे विदा दी और सभा विसर्जित हुई।

कहना नहीं होगा कि सुप्रिया ही यह बालिका थी। दुर्भिक्ष-पीड़ितों के लिए उसने अपना रात-दिन एक कर दिया और कोई प्रयत्न बाक़ी न छोडा। अपनी तीव्र बुद्धि से वह इस बात को समझ गई थी कि बुद्धदेव के मन में क्या बात है। इसीलिए जब कुबेर-जैसे धनवानों ने बहाने बनाने शुरू किये तो वैभव के बीच जन्मी हुई इस बालिका ने दुःखी-दरिद्रों की सेवा के लिए अपने हाथ में भिक्षा की झोली लेली।

यह सब जानते ही हैं कि जो अपने भाई-बहनों पर दया दिखाता है, उनके दुःख में दुःखी होता है और अपने तन-मन-धन से उनकी मदद करने का प्रयत्न करता है, उसकी भगवान भी जरूर मदद करते हैं। यही कारण है कि भगवान् के आशीर्वाद से सुप्रिया का भिक्षा-पात्र कभी रिक्त नहीं हुआ। लोगों ने जब करोड़पति सेठ की इस लड़की को दूसरों के लिए भीख माँगते देखा तो उनके कठोर हृदय भी पिघल गये। उनकी मदद से सुप्रिया ने सब दुर्भिक्ष-पीड़ितों को अन्न-की सहायता पहुँचाई। अपने इस असाधरण प्रयत्न के कारण ही बौद्ध स्त्रियों से इतिहास मे सुप्रिया 'दयावती' के नाम से प्रसिद्ध हो गई है। इसके उदाहण से यह स्पष्ट है कि आत्म-विश्वास एवं ईश्वरी कृपा हो तो एक छोटी 'अवला' भी परोपकार के कितने महान् कार्य कर सकती है। साथ हीं सुप्रिया तथा अन्य अनेक भिक्षुणियों के जीवनों से हमे यह भी मालूम पड़ता है कि भारतीय स्त्रियाँ जन-सेवा के कार्य में हमेशा तत्पर रहती थी।

६

वारांगना

वासवदत्ता

वासवदत्ता प्राचीन काल की एक वेश्या थी, जो मथुरा मे रहा करती थी। इसका सौन्दर्य अपूर्व था, जिससे मोहित होकर श्रीमन्तों के अनेक युवा पुत्रों ने अपना सर्वनाश कर लिया था।

एक दिन भगवान् बुद्ध के शिष्य संन्यासी उपगुप्त पर वासवदत्ता की नजर पड़ी। उपगुप्त ब्रह्मचारी था। उसका क़द लम्बा, शरीर हृष्ट-पुष्ट, मुख कान्तियुक्त और विशाल भाल ब्रह्मचर्य के पवित्र तेज से दैदीप्यमान था। वासवदत्ता उपगुप्त पर मुग्ध हो गई और प्रेमाकांक्षा से प्रेरित होकर उसको अपने यहाँ आने के लिए निमन्त्रित किया। परन्तु उपगुप्त जितेन्द्रिय संन्यासी था। अतः शान्तिपूर्वक उसने यही कहा--"उपगुप्त के लिए अभी वासवदत्ता के घर जाने का समय नहीं आया है।"

जिस वासवदत्ता के सौन्दर्य की अग्नि मे भस्म हो जाने के लिए मथुरा के लखपती और करोडपती तैयार थे, उसी वासवदत्ता के सौन्दर्य की उपेक्षा—और वह भी एक भिखारी के द्वारा। वासवदत्ता के आश्चर्य ठिकाना न रहा। वह सोचने लगी कि संन्यासी के पास मुझे देने को धन न होने के कारण शायद वह आने मे संकोच करता

होगा। इसलिए उसने पुनः उपगुप्त को कहलवाया, कि वासवदत्ता तुमसे स्वर्ण-मुद्रायें नहीं चाहती, वह तो केवल तुम्हारे प्रेम की भूखी।' पर संन्यासी ने इस बार भी धीरज के साथ वही जवाब भिजवा दिया।

इस बात को कई महीने बीत गये। इस बीच वासवदत्ता मथुरा के एक धनी पुरुष को अपने कृत्रिम प्रेम-जाल मे फँसाने का प्रपञ्च कर रही थी। इतने में खबर मिली कि भारत का एक प्रसिद्ध धनी मथुरा आया है। अतः धन के लोभ में इसने उसे अपने वश करने का यत्न आरम्भ किया, और इसके लिए मथुरा-निवासी पूर्वोक्त युवक की हत्या करके उपलों के ढेर में उसे छिपा दिया। युवक के सम्बन्धियों ने राज्य में फरियाद की तब पुलिस की मदद से उपलों के ढेर मे से उसकी लाश निकाली गई। फलतः सरकारी न्यायालय में मुक़द्दमा गया और वहाँ से सिपाहियों को यह राजाज्ञा हुई कि वासवदत्ता के हाथ-पैर तथा नाक-कान काटकर उसे स्मशान में डाल आओ।

राजाज्ञा के अनुसार वासवदत्ता के हाथ-पैर तथा नाक-कान काटकर स्मशान के पास डाल दिया गया। इन कटे हुए स्थानों से लगातार खून की धार वह रही थी, जिससे वासवदत्ता के कपड़े भी तरवतर हो गये। मास खाने के लिए कौए अलग ही आ-आकर उसके शरीर मे चोंचें मारते थे। एक दयालु दासी वहाँ बैठी हुई उन्हे उड़ाने का प्रयत्न कर रही थी। इतने मे सौम्यमूर्त्ति संन्यासी उपगुप्त वहाँ आये।

संन्यासी को देखते ही वासवदत्ता ने दासी से अपने कटे हुए भागों को ढक देने के लिए कहा। उपगुप्त ने करुणापूर्ण स्वर में हाल

पूछा तो वासवदत्ता उलटी चिढ़ गई और कहने लगी—"एक दिन मेरा यह शरीर कमल की तरह अपने सौन्दर्य से चारों ओर सबको मोहमुग्ध करता था, मणि-मुक्ताओं और बारीक मलमल के वस्त्रों से यह विभूषित था, उसी समय मैं तुम्हारे प्रेम की भूखी थी आज तो अत्याचारी राजा की आज्ञा से मेरा अंग-भंग होगया है, लोहू से रंगकर मेरे कपड़े ख़राब हो गये हैं, अब तुम किस लिए आये हो ?"

"बहन !" संन्यासी ने जवाब दिया, "भोग की इच्छा से मैं तेरे पास नहीं आया हूँ। शरीर की सुन्दरता तो तेरी गई, परन्तु उससे भी कहीं उत्तम सौन्दर्य प्रदान करने लिए मैं यहाँ आया हूँ।

"जिस समय तू चारों ओर विषय-भोग के वातावरण से घिरी हुई थी उस समय क्षणिक भोग-लालसा तेरे हृदय में प्रबल थी, उस समय धर्मोपदेश किया जाता तो तेरे मन में कभी स्थान न पाता क्षणभंगुर रूप के अभिमान में उस वक्त तू ऐसी फूली हुई थी, कि जगदोद्धारक महात्मा तथागत (बुद्धदेव) का पवित्र उपदेश किया भी जाता तो तू उसपर ध्यान न देती। इसीलिए मैं जान-बूझकर उस दिन तेरे पास नहीं आया। परन्तु आज स्थिति बदल गई है. आज तू असहाय और अभिमान-रहित है, इसलिए आज मैं बिना बुलाये ही वह उपदेश सुनाने के लिए तेरे पास आया हूँ।

"देख, अस्थायी बाह्य सौन्दर्य और भोग-विलास मे तल्लीन हो जाने का यह कैसा शोचनीय परिणाम हुआ है ॥ सुन्दर हृष्ट-पुष्ट शरीर का सौन्दर्य तुम्हें भ्रम में डालकर सर्वनाश के रास्ते ले गया है। परन्तु, वासवदत्ता । याद रख, एक दूसरा सौन्दर्य ऐसा भी है

जिसका कभी नाश नहीं होता। भगवान् बुद्धदेव का अमृतमय उपदेश सुनकर तेरे हृदय को ऐसी शान्ति मिलेगी और तेरा हृदय ऐसा सुन्दर बन जायगा, कि चिरकाल के उस शाश्वत सुख के मुकावले में इस जगत् में इन्द्रियों के भोग-विलास से मिलनेवाले क्षणिक सुख का कोई मूल्य ही नहीं रहेगा।"

इसी तरह की और भी कई बातें उन्हे कहीं। वासवदत्ता का व्यग्र-हृदय उपदेश सुनकर शान्त हो गया और आध्यात्मिक आनन्द में विभोर होकर अपनी शारीरिक वेदना का उसे स्मरण ही नहीं रहा।

जगत् मे जैसे दुःख की वेदना है उसी प्रकार दूसरी ओर उस दुःख से भी कहीं अधिक शान्ति देनेवाला आध्यात्मिक ज्ञान भी है। बुद्ध-धर्म के आश्रय द्वारा उसी आध्यात्मिक ज्ञान का ग्रहण करके अपना समस्त जीवन पापाचार में व्यतीत करनेवाली वारांगना वासवदत्ता भी आख़िर शान्तिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त हुई।

१०

दया की मूर्त्ति

रुकमावती

जिधर देखो उधर ही दया और परोपकार की बातें तो बहुत सुनाई पडती हैं, इसके लिए थोड़ा-बहुत दुःख उठानेवाले भी मिलते हैं, परन्तु एक अन्य जीव की रक्षा के लिए अपने अंग-भंग को भी तैयार हो जानेवाले विरले ही मिलेंगे। जो थोड़े-से ऐसे व्यक्ति है, उनकी महानता निश्चय ही मानव सन्देह से परे की वस्तु है। दया की मूर्त्त-रूप रुकमावती का ऐसे व्यक्तियों मे बहुत ऊँचा स्थान है।

रुकमावती बौद्ध काल की एक धनी, दयालु और विद्वान स्त्री थी। उत्पलावती नगर में इसका निवास था। यह इतनी दयालु और परोपकारिणी थी कि जिस मुहल्ले मे यह रहती थी वहाँ के किसी भी स्त्री-पुरुष के बारे में यह खबर मिलते ही कि वह अन्न-वस्त्र की तंगी से दुःख पा रहा है, यह तत्काल उसके दुःख निवारण का उपाय करती। यही नहीं बल्कि गुप्त रूप से सदा इस बात का पता लगाती रहती कि किस मुहल्ले मे कौन दीनदुःखी है, और फिर तन-मन-धन से उसका दुःख दूर करने मे लग जाती थी।

एक साल वहाँ जबरदस्त अकाल पड़ा। भूख-रूपी अग्नि की ज्वाला से जलनेवाले नर-नारियों के करुण क्रन्दन से उत्पलावती का

सुन्दर शहर स्मशान जैसा लगने लगा। भूखों मरते लोग चारों तरफ लपलपाती जीभ लिये फिर रहे थे। नगर तथा नगर-बाहर के सभी वृक्षों के बेल-पत्तों, फूलों और खेतों की घास तक को दुर्भिक्ष-पीड़ित अपना भक्ष्य बना चुके थे; फिर भी उनकी भूख-ज्वाला शान्त न हो सकी। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।' आखिर सांसारिक नाते-रिश्ते, प्रेम और ममत्व का सम्बन्ध, भूलकर जैसे भी हो अपनी क्षुधा-ज्वाला को शान्त करने की ही धुन रह गई।

एक दिन सरेआम दुर्भिक्ष-पीड़ित, अस्थि कंकाल भूख के मारे चक्कर खाती हुई एक स्त्री खाने के लिए और कुछ न होने के कारण अपने तुरत के जाये बालक को ही काटकर खा जाने की तैयारी कर रही थी। सहसा रुकमावती की उसपर नजर पड़ी। यह करुण दृश्य देख वह स्तम्भित हो गई। वह सोचने लगी—'ओह, मनुष्य-हृदय इतना कठोर कैसे हो जाता है। स्वयं माता अपने शरीर-पोषण के लिए अपने पुत्र के शरीर का मास उदर में डालकर अपनी भूख मिटाना चाहती है। क्या यह एक-दूसरे के भेदभाव को प्रकट नहीं करता?' यह सोचती हुई वह भूखों मरती उस स्त्री के पास गई और बोली—"ओ भूखी बहन। शान्त हो। धीरज धर।"

भूखों मरती स्त्री ने कहा—"धीरज तो बहुत कुछ रक्खूँ, पर खाऊँ क्या? देश भर के जंगली साग-पत्ते, वनस्पति और घास तक लोगों के पेट में पहुँचकर समाप्त हो चुके हैं, तब फिर मैं क्या पत्थर खाऊँ?"

"धीरज धरो, बहन।" रुक्मावती ने कहा—"मैं अभी घर जाकर

तुम्हारे खाने को कुछ ले आती हूँ, उसे खाना, इस तुरत के जाये बच्चे को तो मत खाओ। बस, थोड़ा-सा सब्र करो।"

इस प्रकार समझा-बुझाकर कुछ देर के लिए तो रुकमावती ने उस स्त्री को अपना बच्चा खाने से रोका, परन्तु फिर उसे ख़याल आया—"यदि मैं खाना लेने घर गई तो आश्चर्य नहीं कि, इस बीच मौक़ा पाकर, भूख से विवेक-हीन बनी हुई यह स्त्री अपनी बात का ख़याल भूलकर बच्चे को खा जाय। तब तो बच्चे के प्राण बचाने का मेरा प्रयत्न व्यर्थ ही न होगा?" फिर उसने सोचा—"बच्चे की रक्षा के लिए यदि उसे मैं इसकी गोद से जबरदस्ती ले जाऊ, तो भी ठीक नहीं। उस हालत मे तो, आश्चर्य नहीं कि जठराग्नि की वेदना और पुत्र-वियोग के शोक से अधीर होकर यह अपने प्राण ही त्याग दे। तब तो उल्टे मुझे स्त्री-हत्या का पाप न लगेगा?"

वह बड़े असमंजस में पड गई, लेकिन सोच-विचार में समय लगाने का अवसर नहीं था। अतः शीघ्र उसने एक गम्भीर निश्चय किया। बच्चे के प्राण बचाने के अपने दृढ़-निश्चय की पूर्त्ति के लिए, आखिर उसने अपनेको खतरे मे डालने का फैसला किया। फलतः धैर्य-पूर्वक एक तेज छुरी से उसने अपना स्तन काटकर सन्तान के खून की प्यासी, दुर्भिक्ष-पीडित, भूख से छट-पटाती हुई स्त्री की ओर फेंक दिया। वह स्त्री कितनी भूखी थी, यह इसीसे स्पष्ट है कि वह उस मासपिण्ड को उठाकर तुरन्त स्वाहा कर गई। इधर मौका पाकर, दयालु रुकमावती बालक को उठाकर चलदी।

उसकी छाती से बहती हुई लोहू की धार ने उत्पलावती नगर के

राजमार्ग को रंग दिया, परन्तु इसके साथ ही अपनी भावी पीढ़ियों के लिए दया की अतिशयता का एक महा उत्कृष्ट उदाहरण भी वह छोड़ गई। न-कुछ करते हुए भी दया और सेवा का ढोल पीटनेवाले नर-नारी इस देवी से शिक्षा लें, तो उन्हे मालूम होगा कि यह मार्ग दिखावे और शोहरत का नहीं प्रत्युत् स्वार्पण का ही सर्वोच्च रूप है।

यह उत्कृष्ट आदर्श हमारे सामने प्रस्तुत करनेवाली देवी रुक्मावती सचमुच धन्य हैं। और निस्सन्देह हम उन्हें दया का मूर्त्त-रूप कह सकते हैं।

विशाखा

बौद्ध-धर्म के ग्रंथों में जिन साध्वी सन्नारियों का उल्लेख मिलता है, उनमें विशाखा का स्थान बहुत ऊँचा है।

श्रावस्ती से सात योजन के फासले पर साकेत नाम का एक बड़ा शहर बसा हुआ था। इस शहर को बसानेवाले धनञ्जय श्रेष्ठी की गिनती उस समय के करोड़पतियों में की जाती थी। विशाखा इन्हीं करोडपती सेठ की एक कन्या थी, उसका सौन्दर्य अपूर्व था। वयःप्राप्त होने पर, श्रावस्ती के मिगार श्रेष्ठि-पुत्र पूर्णवर्धन के साथ उसका विवाह-सम्बन्ध निश्चित हुआ। साकेत और श्रावस्ती, दोनों जगह बड़ी शान-शौकत से उभयपक्ष ने विवाह-समारोह किया।

विवाह-कृत्य के बाद, धनञ्जय श्रेष्ठि अपनी कन्या को श्रावस्ती ले गया। वहाँ अपनी जाति के आठ कुलीन गृहस्थों को बुलाकर, समधी (मिगारश्रेष्ठी) के सामने, उसने कहा—"मेरी कन्या में कोई दोष मालूम पड़े तो आप अच्छी तरह उसकी देखभाल रखें।" इसके बाद, विशाखा को ससुराल छोड़कर, वह साकेत लौट गया।

विशाखा का श्वसुर मिगार-श्रेष्ठी निग्रंथ (नंगा-सम्प्रदाय) का उपासक था। अपने पुत्र के विवाह-समारोह के सिलसिले मे, एक

दिन उसने निर्ग्रंथ श्रमणों (नंगे संन्यासियों) को अपने यहाँ भोजन के लिए आमंत्रित किया। उनके लिए दूध और चावल की खीर बनवाई गई। निर्ग्रन्थों के आने पर मिगार श्रेष्ठि ने आदर के साथ स्वयं उनका आतिथ्य किया और सन्तोपपूर्वक उन्हे भोजन कराया। भोजनोपरान्त अपनी पुत्र-वधू विशाखा को उसने कहलवाया, कि "'अर्हन्त' अपने यहाँ आये हुए हैं, आकर उन्हें प्रणाम कर जाओ।"

विशाखा छुटपन से ही भगवान् बुद्ध की उपासिका थी। बुद्ध और बौद्ध भिक्षुओं को 'अर्हन्त' कहते है, यह वह जानती थी, इनके सिवा और किसीको भी 'अर्हन्त' कहते हैं, यह उसे मालूम न था। अतः 'अर्हन्त' के आगमन की बात सुनकर उसे बड़ी खुशी हुई और जल्दी-जल्दी कपड़े पहनकर वह वहाँ गई, जहाँ उसके श्वसुर मिगार-श्रेष्ठि और उनके सौ अर्हन्त बैठे हुए थे। परन्तु वहाँ बुद्ध या बौद्ध साधु कहाँ थे, वहाँ तो नंगे साधुओं (निर्गन्थ श्रमणों) का जमघट था। यह देख विशाखा के आश्चर्य का ठिकाना न रहा और बड़े तिरस्कार के साथ अपने श्वसुर से उसने कहा—"भला यहाँ आपने मुझे किसलिए बुलाया है ? ऐसे नंग-धड़ंग लोग भी कहीं अर्हन्त हो सकते हैं ? ऐसे निर्लज्जों को तो हम अर्हन्त नहीं कह सकते।" इसके बाद उलटे पैरों वह वहाँ से लौट गई।

इधर उक्त श्रमणों को नववधू द्वारा किया गया अपना अपमान बहुत खला और वे मिगारश्रेष्ठि से कहने लगे,—"वाह रे गृहस्वामी ! ऐसी कर्कशा को तू कहाँ से पकड़ लाया ? मानों तेरे पुत्र को सारी दुनिया में और कोई लड़की ही उपलब्ध नहीं थी !"

मिगार ने कहा—"महाराज। अभी उसमें लड़कपन है, धीरे-धीरे हम उसे ठीक कर लेंगे। अभी तो इस उच्छृंखलता के लिए उसे क्षमा कर देना चाहिए।"

इस प्रकार जैसे-तैसे समझा-बुझाकर मिगार ने निर्ग्रन्थों को विदा किया और आप खीर लेकर खाने बैठा। विशाखा एक ओर खड़ी होकर उसे पंखा झलने लगी। इतने मे एक बौद्ध भिक्षु दरवाजे पर आ खड़ा हुआ। मिगार जहाँ बैठा हुआ खीर खा रहा था, वहाँ से वह भिक्षु दिखाई पडता था, फिर भी उसकी ओर बिलकुल ध्यान न दे वह अपने खाने में ही लगा रहा। तब विशाखा ने वहीं से उस भिक्षु को सम्बोधन करके कहा—"आर्य। मेरे श्वसुर इस समय बासी भोजन कर रहे हैं। इसलिए आप यहाँ से आगे जायँ।"

विशाखा के ये शब्द सुनते ही एकदम मिगार का पारा चढ गया और नौकरों से उसने कहा—"यह खीर यहाँ से उठा ले जाओ और इस छोकरी को इसी समय मेरे घर से निकाल दो। भला इतनी उन्मत्तता, कि मेरे सामने ही मेरा अपमान करते हुए भी इसे शर्म नहीं आती।"

मिगार गुस्से से आग-बबूला हो गया, परन्तु विशाखा विचलित न हुई। उसने शान्ति के साथ अपने श्वसुर से कहा—"आपको मुझ-पर इतना नाराज नहीं होना चाहिए। मैं कोई मोल खरीदी हुई दासी तो हूँ नहीं। मैं भी आप ही के समान उच्चकुल मे पैदा हुई हूँ। पहले आप मुझे यह बतलावें कि मेरा क़सूर क्या है, इसके बाद मुझे जाने को कहें। अकारण ही मुझपर कोई दोषारोपण न हो, इसके लिए मेरे

पिता ने यहाँ के आठ कुलीन गृहस्थों से मेरे अपराध की जाँच करने के लिए कह रक्खा है। उनके सन्मुख आप यह बतलायें कि मेरा अपराध क्या है ? यदि वे मुझे अपराधी ठहरायेंगे, तो मैं राज़ी-खुशी यहाँ से निकल जाऊँगी।"

पुत्र-वधू की यह स्पष्ट बात सुनकर मिगार का दिमाग़ जरा ठिकाने आया। तुरतोंतुरत उसने उन आठों कुलीन गृहस्थों को बुलवाया और पुत्र-वधू का अपराध बतलाकर उसने कहा—"इसे आज के आज मेरे घर से निकाल दो।"

मिगार की बातें सुनकर गृहस्थों ने विशाखा से पूछा—"क्यों बहन! क्या तुमने यह कहा था, कि तुम्हारे श्वसुर बासी अन्न खाते हैं ?"

विशाखा ने कहा—"मेरा आशय यह था कि मेरे श्वसुर नवीन पुण्य सम्पादन न करके पुराने पुण्य पर ही निर्वाह करते हैं, इसीलिए मैंने यह कहा था कि वह बासी अन्न खाते हैं।"

"यह कथन तो बहुत समझदारी का मालूम पड़ता है।" गृहस्थों ने मिगार से कहा—"इसीपर विशाखा को घर से निकाल देना उचित नहीं है।"

तब मिगार ने खोद-खोदकर विशाखा के और भी सूक्ष्माति-सूक्ष्म दोष बतलाये, परन्तु जाँच करने पर मालूम पड़ा कि वे कोई दोष नहीं थे और मिगार को व्यर्थ ही ग़लत फ़हमी हो गई थी। फिर भी मिगार ने कहा—"इसका बाप जब यहाँ आया तो हमारे सामने उसने इसे दस नियमों की शिक्षा दी थी, परन्तु हमें तो वह केवल दिखावा

ही मालूम पड़ता है—आगे यह जाने कि इसने उनका क्या अर्थ लगाया है।"

गृहस्थों ने विशाखा से पूछा—"क्यों बहन! धनञ्जय श्रेष्ठि ने तुम्हें किस-किस नियम की शिक्षा दी थी और उनका तुम क्या अर्थ समझी हो?"

विशाखा ने जवाब दिया—"मेरे पिता ने मुझे जो शिक्षा दी उनमें सबसे पहली यह थी कि अन्दर की आग बाहर न लेजाई जाय। इसका मतलब यह है कि घर मे कोई कहा-सुनी या लड़ाई-झगडा आदि हो तो बाहर उसकी चर्चा न की जाय। यह दूसरी शिक्षा थी कि बाहर की आग अन्दर न लाना। इसका अर्थ यह है कि अडोसी-पडोसी आदि बाहरी लोग सास-ससुर, देवरानी-जेठानी, ननद-देवर आदि की कोई बुराई करते हों तो घर मे किसीसे उसकी चर्चा न करना। कोई वस्तु जो दे उसे ही लौटाई जाय, यह तीसरी शिक्षा, और जिसने न दी हो उसे न देना चौथी शिक्षा है। इनका अर्थ यह है कि कोई वस्तु किसीसे मॉंगी जाय तो जिसने दी हो उसीको वह लौटाई जाय, ऐसे आदमी को न दी जाय जिससे वह मिली नहीं थी। पॉंचवीं शिक्षा नजदीकी नाते-रिश्तेदारों पर लागू होती है। अपने रिश्तेदारों मे कोई ग़रीब हो और मॉंगकर ली हुई चीज़ वापस करने की उसकी क्षमता न हो तो वह उसे ही दे देना, उसका आशय है। सुख से बैठना छठी शिक्षा है और सुख से भोजन करना सातवीं तथा सुख से सोना आठवीं। इनका अर्थ यह है कि अपने से बड़े जहॉं बारम्बार आते-जाते हों वहॉं न बैठा जाय, उनके खाये

बाद, नौकर-चाकरों की व्यवस्था करके खाया जाय, और अपने बड़ों के सोजाने पर, उनकी ठीक व्यवस्था करके,तब सोया जाय। अग्नि-पूजा नवीं शिक्षा है। पतिव्रता स्त्री के लिए पति अग्नि के समान पूज्य होना चाहिए और जैसे ब्राह्मण अग्नि की परिचर्या करता है उसी प्रकार उसे अपने पति की करनी चाहिए, यह इस शिक्षा का अर्थ है। और दसवीं शिक्षा है गृह-देवता की पूजा—अर्थात् सास, श्वसुर आदि गुरुजनों को गृह-देवता समझकर उनकी सेवा की जाय।"

विशाखा के पिता ने उसे जो दस शिक्षायें दी थीं उनका इस प्रकार स्पष्टीकरण करके बताने पर आठों कुलीन ब्राह्मणों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की और मिगार श्रेष्ठि से कहा—"आप क्रुद्ध होकर ऐसी समझदार लड़की को घर से निकाल देने के लिए तैयार हुए हैं; पर सच पूछो तो यही आपके घर की लक्ष्मी है।"

आख़िर मिगार ने अपनी भूल स्वीकार की और विशाखा से उसके लिए माफ़ी माँगी।

विशाखा ने कहा—"आप मुझसे बड़े और मेरे पूज्य हैं, इसलिए क्षमा करने जैसा कोई अपराध आपने किया हो, यह मैं नहीं समझती; सिर्फ़ एक बात में मेरे और आपके मेल मिलता हुआ प्रतीत नहीं होता। वह यह कि मैं तो बुद्ध की उपासिका हूँ और आप हैं निर्ग्रन्थ के उपासक, अतः भिक्षा के लिए आनेवाले बौद्ध भिक्षुओं का आना आपको अखरेगा, और मैं इन निर्ग्रन्थों को नमस्कार नहीं करूँगी। जबतक इस बारे में कोई निर्णय न हो जाय, मेरे यहाँ रहने से न आपको सुख मिलेगा और न मैं ही सुख से रहूँगी।"

मिगार ने कहा—"तुम्हारी जो इच्छा हो वैसा करना; मुझे उसमे कोई ऐतराज न होगा। मेरे घर में रुपये-पैसे की कोई कमी नहीं है, तुम बौद्ध भिक्षुओं को बुलाकर खिलाओगी तो उससे मैं निर्धन नहीं हो जाऊँगा। अतः मैं तो अपने निर्ग्रन्थों को अन्न-दान करूँगा और तुम यथावकाश अपने बौद्ध भिक्षुओं को अन्न-वस्त्रादि का दान करना।"

इस प्रकार समझौता होकर मामला शान्त हुआ।

दूसरे ही दिन विशाखा ने बुद्ध और उनके भिक्षु-संघ को अपने यहाँ आमंत्रित किया। निर्ग्रन्थों को इस बात का पता लगते ही तत्काल वे मिगारश्रेष्ठि के पास आये, और बौद्ध भिक्षुओं को दिये गये निमंत्रण की कैफियत तलब की।

मिगार ने जवाब दिया—"मेरी पुत्र-वधू कोई छोटे-मोटे खान्दान की नहीं है, उसके साथ दासियों का सा व्यवहार नहीं किया जा सकता। मुझे अपने घर को सुखी रखना हो, तो पुत्र-वधू को उचित स्वतंत्रता देनी ही चाहिए।"

निर्ग्रन्थों ने कहा—"बौद्ध भिक्षुओं को तू अपने घर आने से न रोक सकता हो तो न सही, पर इतना तो जरूर करना कि तू उनके दर्शन करने कभी न जाना। बुद्ध बड़ा मायावी है। हमने सुना है कि वह लोगों को मुग्ध करके अपने पन्थ में खींच लेता है। अतः विशाखा चाहे जितना आग्रह करे तो भी तू उनके दर्शन करने मत जाना।"

मिगार ने उन्हें बुद्ध या बौद्ध भिक्षुओं के दर्शन न करने का वचन दिया और तब निर्ग्रन्थ अपने स्थान को लौट गये।

दूसरे दिन विशाखा ने भोजन की सब तैयारी करके बुद्ध और भिक्षुओं को बुलाकर बड़े आदर-सत्कार के साथ उन्हें भोजन कराया। भोजनोपरान्त अपने-सहित सब घरवालों को धर्मोपदेश करने की बुद्ध-गुरु से विशाखा ने प्रार्थना की, परन्तु मिगार उपदेश सुनने नहीं आया। विशाखा के बहुत आग्रह पर आखिर उसने परदे की आड में बैठकर धर्मोपदेश सुनना स्वीकार किया क्योंकि उसे तो बुद्ध का मुख ही नहीं देखना था। अतः विशाखा ने एक ओर परदा लगाकर अपने श्वसुर के बैठने की व्यवस्था की।

सबके एकत्र होजाने पर बुद्ध ने अपनी अमृतवाणी से धर्मोपदेश किया। दान, शील आदि के बारे मे बुद्ध की बातें सुनकर मिगार-श्रेष्ठि बहुत प्रभावित हुआ। उसे इस बात पर बडा पश्चात्ताप हुआ कि ऐसे महापुरुष के अपने घर आने पर भी मैं उनके दर्शन नहीं कर रहा हूं। यह सोचकर उसने एकदम अपने सामने का पर्दा हटा दिया और दौड़कर बुद्ध के चरणों मे जा गिरा। बुद्ध से उसने कहा—"भगवन्! मेरे अपराध क्षमा करो। आज से मैं भी आपका हूँ। इस विषय मे विशाखा मेरी माता के समान है। वह यदि मेरे घर न आई होती, तो मैं आपकी अमृत-वाणी न सुन पाता। अतः आजसे मैं उसे अपनी माता ही कहा करूँगा।"

तभी से विशाखा का नाम मिगार-माता पड़ गया। श्रावस्ती के अधिकांश निवासी उसे मिगार-माता के ही नाम से ही जानते थे। बुद्ध और भिक्षुसंघ के रहने के लिए उसने पूर्वाराम नामक उद्यान मे एक प्रासाद बनवाया था, जो 'मिगार-माता-प्रासाद' नाम से प्रसिद्ध

हुआ। श्रावस्ती में विशाखा की बुद्धिमत्तता एवं नीतिमत्ता की कीर्ति फैली हुई थी और राव से रंक तक सब उसे आदर की दृष्टि से देखते थे। मांगलिक कृत्यों और उत्सवों मे विशाखा को सबसे पहले आमंत्रित किया जाता था। श्रावस्ती की बौद्ध उपासिकाओं में उसका प्रमुख स्थान था और वहाँ आने-जानेवाले रोगी भिक्षुओं की सार-सम्हाल पर वह बहुत ध्यान देती थी।

१२

कुलवधू

सुजाता

भगवान तथागत बुद्ध के आविर्भाव-काल में हमारा यह जम्बु द्वीप (भारतवर्ष) अंग, मगध, काशी, कोशल आदि सोलह भागों में विभक्त था। महाराज बिम्बिसार मगध के राजा थे। अंग-देश भी उन्हींकी आधीनता में था। राजा प्रसेनजित् इस समय कोशल के सिंहासन पर विराजमान् थे। बिम्बिसार और प्रसेनजित अपने समय मे धनवैभव की दृष्टि से भारतवर्ष के अन्य राजाओं से बढ़े हुए थे। उनके प्रयत्नों से मगध और कोशल महाप्रतापी एवं ऐश्वर्यशाली राज्य वन गये थे।

कोशल-राज्य की राजधानी श्रावस्ती थी। श्रावस्ती के वैभव और सौन्दर्य की सीमा न थी। अनेक सुन्दर आश्रमों, उद्यान, वन, उपवन और सरोवरों आदि से यह नगर सुशोभित था। चित्र-विचित्र और तरह-तरह की कारीगरी से सुन्दर वनी हुई वडी-बड़ी हवेलिया इस शहर की शोभा मे और भी वृद्धि करती हुई यहाँ के निवासियों की समृद्धि को जाहिर करती थीं। नगरनिवासियों की आकर्षक कान्ति, उनके विशाल उन्नत शरीर, रमणीय और उज्ज्वल

मुखारविन्द—इन सबके कारण नगर की शोभा में और भी सौगुनी वृद्धि हो रही थी।

इस नगर में सुदत्त नामका एक वणिक रहता था, जो श्रावस्ती में सब से ज्यादा धन-वैभववाला था। दान-पुण्य भी वह खूब करता था। भारतभर में उसका व्यापार फैला हुआ था। हरेक बड़े शहर में उसकी दुकान थी और सदाचारी, उदार, असाधारण दानी एवं परमधार्मिक पुरुष के रूप में श्रावस्ती मे वह बहुत ही लोकप्रिय हो गया था। विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मणों पर भी उसका विशेष प्रेम था, जिससे वे भी उसकी बड़ी प्रशंसा करते थे।

मोक्षमार्ग के शोधक, परम शान्ति, परम सुख एवं निर्वाणधर्म के प्रवर्त्तक स्वयं भगवान् बुद्धदेव के मुँह से उनके अमृतमय धर्म और संघ की कथा सुदत्त ने राजगृह मे अपनी बहन के घर सुनी थी। उस उपदेश से संसार के दुःख और ताप से क्लेश पाये हुए सुदत्त के हृदय को अवर्णनीय शान्ति मिली थी। उसी दिन से उसके हृदय मे सुख की एक अपूर्व रेखा उत्पन्न हुई थी और उसने संकल्प किया था कि मैं अपनी इस अगाध सम्पत्ति का उपयोग बुद्ध-धर्म के प्रचार में करूँगा, और अपना शेष जीवन धर्म-चिन्तन तथा साधुओं की सेवा में बिताऊँगा।

बुद्धदेव पर उसकी अटूट श्रद्धा और अटल भक्ति थी, चौरासी करोड कार्षापण (उस समय की एक स्वर्ण मुद्रा जो आजकल के पांच रुपयों के बराबर होती थी) खर्च करके उसने श्रावस्ती की उत्तर दिशा मे जेतवन नामक परम रमणीय उद्यान में एक बडा भारी

विहार वनवाया था। इस सुन्दर विहार को उसने बुद्धदेव तथा उनके शिष्यों की भेंट कर दिया। दो हज़ार भिक्षु नित्य उसके यहाँ भोजन करते थे और वेगिनती दीन-दुखी-अनाथ उसके दरवाजे पर अन्न प्राप्त करके उसे आशीर्वाद देते थे। प्रतिदिन अनाथों को आहार देने के कारण उसका नाम ही 'अनाथ पिण्डद' पड गया था।

भगवान बुद्धदेव की उपासिकाओं में विशाखा सर्वप्रमुख थी। उसके समान दानशील सेविका इस समय और कोई नहीं थी। श्रावस्ती नगर की पूर्व दिशा मे उसने २७ करोड कार्षापण खर्च करके पूर्वाराम नामका एक परम रमणीय विहार वनवाकर बुद्धभगवान् की भेंट किया था। उसके पिता मेंडक अंगदेश के भद्रीय नगर के धन-ऐश्वर्य से युक्त एक प्रसिद्ध सेठ थे। और श्रावस्ती नगर के एक धनवान् सेठ मिगार के पुत्र पुण्यवर्धन के साथ उसका विवाह हुआ था।

हमारी चरित्र नायिका सुजाता उस विशाखा की ही छोटी वहन थी। अनाथपिण्डद के पुत्र के साथ उसका विवाह हुआ था। धनवान सेठ की कन्या होने से, सुजाता को अपने मन में वड़ा अभिमान था। वह किसीका कहना न मानती, सास-ससुर को कुछ न समझती और अपने पति पर भी उसकी कोई श्रद्धा नहीं थी।

एक दिन, अनाथपिण्डद के निमंत्रण को स्वीकार करके, बुद्धदेव उसके यहाँ भिक्षा लेने गये। उनके उपयुक्त आसन आदि सामग्री की तैयारी तो उनके आने से पहले ही करली गई थी। भगवान के आने पर अनाथपिण्डद ने उनका स्वागत करके उन्हें आसन पर विठाया और आप उनके सामने वैठ गया। इस समय उनके अन्तःपुर में

वडी गडवड मच रही थी। कहा-सुनी इतनी जोर से हो रही थी कि वाहर तक उसकी आवाज सुनाई पडती थी। अतः भगवान् ने पूछा—"श्रेष्ठी। घर में इतनी अधिक गडवड़ क्यों है ? यहाँ तो ऐसा कोलाहल मच रहा है, जैसे किसी मछली पकड़नेवाले की मछली चोरी चली जाने पर मचा करता है।" तब अनाथपिण्डद ने दिल खोलकर बुद्धदेव से अपने दुःख की वात कही। उसने कहा—"भगवन्! आपका कहना ठीक है, पर मैं लाचार हूँ। मेरी एक पुत्र-वधू बड़े घर की वेटी है। वह किसीको कुछ गिनती ही नहीं। वह इतनी अभिमानी है कि अपने पति को भी कुछ नहीं समझती। सास-ससुर का अपमान करती है और भगवान पर भी उसका अनुराग नहीं है। पूजा भी वह किसी दिन नहीं करती, उसीके आचरण से तंग आकर अन्तःपुरवासी स्त्रियाँ हल्ला-गुल्ला मचा रही हैं।"

भगवान् ने यह सुनकर अनाथपिण्डद से कहा—"सुजाता को यहाँ बुलाओ।" भगवान् की आज्ञा को स्वीकारकर सुजाता वाहर आई और भगवान् को प्रणाम करके दूर जा वैठी। भगवान् ने उसे सम्बोधन करके कहा—"सुजाता। पत्नियाँ सात प्रकार की होती हैं:—(१) वधिक-समा (हत्यारी), (२) चोर समा (चोर) (३) आर्य-समा (४) मातृ-समा (५) भगिनी-समा (६) सखी-समा और (७) दासी के समा। वता, तू इनमें से कैसी है ?"

सुजाता ने कहा—"भगवन्। मैं आपके इस संक्षिप्त उपदेश का मर्म नहीं समझी। आप सीधी-सादी भाषा में खुलासा करके समझाइए, तव समझ-बूझकर मैं आपको जवाव दूँगी।"

भगवान् ने कहा—"तब ध्यान देकर सुन।"

सुजाती—हाँ, सुनती हूँ; आप कहिए।

भगवान ने कहा—"जो स्त्री सदा क्रोध किया करे, स्वामी का बुरा चाहे, पर-पुरुष पर मोहित होकर पति का अपमान करती हो, धन द्वारा खरीदी हुई होने पर भी जो अपने खरीदनेवाले की हत्या करने को उत्सुक हो, ऐसी स्त्री को *वधिक समा* या *हत्यारी पत्नी* कहते हैं।

"शिल्प, व्यापार या खेती से पति जो कमाई करे उसमे से थोडा वहुत भी धन चुराने की जो स्त्री इच्छा करती है और मौक़ा मिलने पर चुरा भी लेती है, यही नहीं बल्कि चूल्हे पर चढ़ाये हुए दाल-चावल मे से भी जो छिपाकर रख लेने का प्रयत्न करती है, उसे *चोर-समा पत्नी* कहते हैं।

"जो स्त्री कोई काम नहीं करना चाहती, आलसी स्वभाव की होती है, अच्छा खाये-पिये और पहने-ओढ़े वग़ैर जिसे चैन नहीं पड़ता, जिसके व्यवहार मे कर्कशता है, जिसकी प्रकृति उग्र है, जो दूसरों के साथ अप्रिय एवं कर्कश व्यवहार करती है पति को अपना वड़प्पन दिखाती है, वह *आर्य-समा पत्नी* कहलाती है।

"जो स्त्री सदा अपने पति का हित-चिन्तन करती है, जैसे माता पुत्र की रक्षा के लिए अपने प्राणों की भी पर्वा नहीं करती उसी प्रकार अपने प्राणों की वाजी लगाकर भी जो अपने पति की रक्षा करती है, जो पति के कमाये हुए धन की यत्नपूर्वक रक्षा करती है, वह *मातृ-समा पत्नी* कहलाती है।

"जो स्त्री वहन की तरह अपने पति पर स्नेह-भक्ति रखती है

और लज्जापूर्वक उसके आज्ञानुसार चलती है, वह *भगिनी-समा पत्नी* कहलाती है।

"बहुत दिनों बाद आई हुई सखी को देखकर किसी सखी को जैसा आनन्द होता है उसी प्रकार जो स्त्री पति को देखते ही आनन्द में मग्न हो जाय और जो अपने कुटुम्ब के गौरव की रक्षा करनेवाली शीलवती एवं पतिव्रता होती है, उसे *सखी-समा पत्नी* कहते हैं।

पति यदि अपनी स्त्री को मार डालने के लिए भी उतारू हो जाय फिर भी जो स्त्री अपने पति का यह बरताव शांति और धीरज से सहन करती है, जो पति पर जरा भी क्रोध नहीं करती, जो स्वभाव से ही क्रोध रहित होती है और अपने पति की अनुगामिनी होती है वह स्त्री *दासी-समा पत्नी* कहलाती है।

"इनमे से हत्यारी, चोर और आर्य समा पत्नियाँ शील-हीन, कर्कशा स्वभाववाली एवं स्नेह-शून्य होती हैं। मृत्यु के बाद उन्हें नरक मिलता है। माता, भगिनी, सखी और दासी-समा पत्नियाँ शीलवती, संयमी और सदा अच्छे कामों में लगी रहनेवाली होती हैं। मृत्यु के बाद उन्हें स्वर्ग प्राप्त होता है।

"सुजाता! अब बता, इन सात में तू किस प्रकार की पत्नी है?"

सुजाता ने नम्रता के साथ जवाब दिया—"भगवन्! आज से आप मुझे अपने पति की दासी समझिए।"

इसके बाद अनाथपिण्डद ने भगवान को नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन अपने हाथों परोसकर खिलाये। भोजनोपरान्त भगवान वापस जेतवन के विहार में चले गये।

सुजाता ने इसी दिन से अपने सास-ससुर पर भक्ति रखते हुए उनकी सेवा-टहल करना आरम्भ कर दिया। पति के प्रति अत्यन्त श्रद्धा, भक्ति और प्रेम रखते हुए छाया के समान वह उसके वशीभूत हो गई। दास-दासियों को अपने बच्चों की तरह प्रेम करने लगी। फलतः घर के सब आदमी अब उसके आचरण से सन्तुष्ट रहने लगे और पास-पड़ौसवाले भी उसके सरल-स्नेह एवं कोमल स्वभाव से मुग्ध होने लगे।

सुजाता को बुद्ध ने जो उपदेश दिया, उसपर से यह समझा जा सकता है कि स्त्री-जाति के प्रति भगवान बुद्ध का कितना प्रेम था। स्त्रियों को उन्होंने जो अमृतमय उपदेश दिया है उसपर सर्वसाधारण स्त्रियाँ ध्यान दें तो देश को बड़ा लाभ हो। हमारी माँ-बहनें उनके अमृतमय उपदेश के अनुसार चलें तो संसार के अनेक पाप-ताप से बच जायंगी और संसार उनके लिए शान्ति-निकेतन बन जायगा। आपस मे मेल-जोल न होने के कारण जिन कुटुम्बों मे कलह की अग्नि सुलग रही हो वहा यदि बुद्ध भगवान के इस उपदेश का स्मरण किया जाय तो अपूर्व शान्ति-सुधा की वर्षा होगी। इस उपदेश का ही प्रभाव था कि जो सुजाता एक समय सबकी बुरी थी, उसीने आगे चलकर महासाध्वी के रूप में खूब ख्याति प्राप्त की। आशा है, हमारी बहनें इसके चरित्र से समुचित शिक्षा ग्रहण करेंगी।

१२

पति को उपदेश देनेवाली

नकुलमाता

नकुलमाता बुद्ध-धर्म की एक मुख्य उपासिका थी। इसने अपने पति को उपदेश दिया था, जो बड़ा बोधप्रद है। अपनी ऐसी योग्यता के कारण ही इसने उपासिकाओं में अग्रस्थान प्राप्त किया था।

बुद्धदेव भर्ग देश के शिशुमारगिरि मे निवास कर रहे थे, उस समय की बात है। नकुल पिता नामक एक गृहस्थ बहुत बीमार हो गया और सबको ऐसा प्रतीत होने लगा कि अब इसका मृत्युकाल आ पहुँचा। तब, अपने पति को मरणोन्मुख देखकर, उसकी पत्नी नकुलमाता ने उससे कहा :—

"स्वामी। संसार मे आसक्त रहकर आपकी मृत्यु हो, यह ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसी प्रपंचासक्तियुक्त मृत्यु दुःख कारक है, ऐसा भगवान् ने कहा है।

"कहीं आपके मन में यह शंका तो नहीं है कि 'मेरे मरने पर नकुलमाता बालकों का लालन-पालन और जीवन-निर्वाह नहीं कर सकेगी ?' यदि ऐसी बात हो तो, इस शंका को आप अपने मन से

निकाल दीजिए। क्योंकि मुझे सूत कातना आता है, और ऊन भी तैयार कर सकती हूं, इनके द्वारा मैं आपके वाद वालकों का भरण-पोपण कर सकूँगी।"

"आपको यह शंका होना भी संभव है कि 'मेरी मृत्यु के वाद नकुलमाता पुनर्विवाह तो नहीं कर लेगी?' परन्तु इस शंका को भी आप अपने मन से निकाल दें। यह आपको मालूम ही है कि आज सोलह-वर्प से मैं 'उपोसथ व्रत' (गृहस्थ में रहते हुए ब्रह्मचर्य) का पालन कर रही हूँ, तव भला आपके मरने पर पुनर्विवाह क्यों करूँगी? आपकी मृत्यु के वाद मैं वुद्ध भगवान् और भिक्षुसंघ का धर्मोपदेश सुनने नहीं जाऊँगी, यह भी शंका हो सकती है। परन्तु आप यह विश्वास रक्खें कि आपके पीछे भी मैं इसी प्रकार वुद्धोपदेश सुनूंगी। रही यह शंका कि आपके पीछे मैं वुद्ध भगवान् के उपदेशानुसार शील का यथार्थ पालन करूँगी या नहीं? सो इस वात का आप पूर्ण विश्वास रखिए कि उत्तम शीलवाली जो वुद्धोपासिकायें हैं, मैं भी उन्हींमे से एक हूँ। इसी प्रकार यह शंका भी आप अपने मन से निकाल दें कि मुझे समाधि लाभ नहीं हुआ है इसलिए आपकी मृत्यु से मैं वहुत दुःखी होऊँगी। क्योंकि समाधि लाभवाली जो वुद्धोपासिकायें हैं उन्हींमें की एक मैं भी हूँ। और यदि ऐसी कोई शंका आपके मन में हो कि अभी मैं वुद्ध-धर्म का तत्त्व नहीं समझ पाई हूँ, तो उसे भी निकाल डालिए, क्योंकि जो तत्त्वज्ञ उपासिकायें हैं उन्हींमे मैं भी हूँ।

"यह सव सोचकर, किसी भी तरह की कोई चिन्ता आप न करें; और अपने मन को शंका और आसक्ति से विल्कुल मुक्त करलें।"

नकुलमाता के इस बोध-प्रद उपदेश से उसके पति नकुलपिता का समाधान हो गया और उसकी सारी शंका और चिन्तायें निर्मूल हो गईं। फलतः यथा समय उसका रोग भी दूर हो गया। रोग मुक्त होने के बाद वह बुद्ध के दर्शनों को गया, तब बुद्ध ने उससे कहा—"गृहपति! तू बडा पुण्यवान् है, जो नकुलमाता जैसी उपदेश देने और तुझपर प्रेम रखनेवाली स्त्री तुझे पत्नी के रूप मे प्राप्त हुई है। उत्तम शीलवाली जो उपासिकायें हैं वह भी उन्हीं मे से एक है। तुझे ऐसी पत्नी प्राप्त हुई है, यह तेरा सौभाग्य है।"

नकुलमाता की कथा तो बोधप्रद है ही, पर इसपर से यह भी समझा जा सकता है कि बुद्ध भगवान् स्त्रियों की योग्यता की कितनी कदर करते थे। साथ ही यह भी कल्पना की जा सकती है कि जिसको बुद्ध भगवान् जैसे महाज्ञानी, तपस्वी और सिद्ध राजर्षि ने इतने उत्तम शब्दों मे बखान किया उस विदुषी मे कितने अधिक गुण हैं।

———

१४

तत्त्व-पिपासु चिरकुमारी

क्षेमा

भगवान् बुद्धदेव श्रावस्ती मे थे, उस समय प्रसेनजित् और ब्रह्मदत्त नामक दो राजाओं में किसी बात पर कहा-सुनी हो गई और वाद-विवाद ने बढ़ते-बढ़ते ऐसा रूप धरण कर लिया कि उन दोनों के बीच युद्ध होने कि नौवत आ गई। संयोगवश इसी समय प्रसेनजित् के यहाँ कन्या और ब्रह्मदत्त के यहाँ पुत्र का जन्म हुआ। दोनों राजाओं ने एक-दूसरे को सूचित किया कि यदि इन दोनों वालकों का आपस मे विवाह हो जाय तो हमारा झगडा मिट-कर फिर से हमारे वीच मित्रता हो सकती है। इसपर दोनों सहमत हो गये और युद्ध की तैयारियाँ वन्द करदीं।

इस प्रकार विलकुल शैशवावस्थामे, माँ की गोद में ही, प्रसेनजित् की कन्या और ब्रह्मदत्त के पुत्र की सगाई (विवाह-सम्बन्ध का निश्चय) होगई।

प्रसेनजित् की कन्या का नाम क्षेमा रक्खा गया और प्रसेनजित् ने उसे धर्म तथा नीति की ऊंची शिक्षा दी। परन्तु जब वह वडी हुई और विवाह के क़ाविल होगई तो उसने स्पष्ट रूप से कह दिया कि

"मैं विवाह नहीं करूँगी मैं तो जीवन-पर्यन्त कुमारी रहकर धर्मशास्त्र का अध्यन करना चाहती हूँ।"

कन्या की ऐसी प्रतिज्ञा सुनकर प्रसेनजित् गहरे विचार में पड़ गया। उसे मन में यह चिन्ता होने लगी कि ब्रह्मदत्त के मन में ज़रूर यह सन्देह होगा कि मैंने ही क्षेमा को ऐसा बहाना करने के लिए कहा है। बड़ी मुश्किल से तो मैंने झगड़े का अन्त किया था, उसमें फिर यह गड़बड़ कहाँ से आ खड़ी हुई, जिसका कोई ख़याल भी नहीं था।

इस प्रकार के विचारों से प्रसेनजित् परेशान हो गया और उसने गुप्तरूप से ब्रह्मदत्त को पत्र लिखा, कि तुम जल्दी से आकर अपने पुत्र के साथ क्षेमा का विवाह करालो।

तत्त्वज्ञान की प्यासी क्षेमा को किसी प्रकार इस बात का पत चल गया। अतः तुरन्त ही वह भगवान् बुद्धदेव के पास चली गई। भगवान् बुद्ध इस समय जेतवन में विराजमान् थे। उन्होंने देखा कि क्षेमा सचमुच तत्त्वज्ञान और धर्मोपदेश पाने के योग्य है, अतः उन्होंने उसे उपदेश देना आरम्भ कर दिया। बुद्धदेव के उपदेश के प्रभाव से क्षेमा ने बौद्ध धर्म का तत्त्व जान लिया और षड्रिपुओं के प्रलोभन को दबाने में समर्थ हो गई। इस प्रकार वह एक आदर्श विदुषी और साध्वी बन गई।

कुछ समय बाद क्षेमा के नाते-रिश्तेदार आश्रम पहुँचे और वहाँ से बलपूर्वक उसे घर ले गये। प्रसेनजित् ने उसके विवाह की तैयारियाँ भी शुरू कर दीं। धीरे-धीरे विवाह का दिन भी आ पहुँचा। पुरोहित ने वर-कन्या के हाथ पकड़कर दोनों को विवाह के पवित्र बन्धन में

बद्ध करने के लिए मंत्रोच्चार भी आरम्भ कर दिया। अकस्मात् इसी समय जिस सुन्दर चौकी पर क्षेमा बैठी थी उस समेत धीरे-धीरे ऊंची उठती हुई आकाश की ओर जाने लगी, यही नहीं बल्कि आकाश मे ऊँची पहुँच जाने पर उसने और भी तरह-तरह के चमत्कार दिखलाये। तब सबको क्षेमा की अपूर्व शक्ति और सिद्धि का पता लग गया। विवाह-मण्डप मे बैठे हुए सब स्त्री-पुरुष यह दृश्य देख अवाक् और स्तब्ध हो गये। सबने विनय के साथ प्रार्थना करके क्षेमा को आकाश से नीचे उतारा। अब भला किसकी हिम्मत थी, जो उससे विवाह की बात करता? फलतः विवाह रुक गया और क्षेमा पिता की आज्ञा लेकर पुनः तपस्या करने चली गई।

प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं के द्वारा क्षेमा ने आकाश मे ऊपर उठने की शक्ति प्राप्त की थी, यह निस्सन्देह है। परन्तु यह तो बहुत मामूली सिद्धि है। जैसे कि भगवान् बुद्ध स्वयं अपने श्रीमुख से कह गये हैं, क्षेमा ने जो शिक्षा प्राप्त की थी वह आकाश में चढ़ने से भी कहीं ज्यादा प्रशंसनीय है। निर्वाण क्या है, मृत्यु के बाद आत्मा की क्या दशा होती है, इत्यादि तत्त्वों का रहस्य क्षेमा ने अपने पिता प्रसेनजित् को बड़ी अच्छी तरह समझाया था। ऐसी कन्या सचमुच धन्य है!

१५

वारांगना से परिव्राजिका

कुवलया

एक वार 'गिरिवन्धु संगम' के दिन श्रावस्ती नगर मे खूब समारोह हो रहा था। दूर-दूर के स्त्री-पुरुष इस समारोह में शामिल होने के लिए, श्रावस्ती मे एकत्र हुए थे। इस अवसर पर दक्षिण की ओर से एक वारागना भी वहा आई। कुवलया उस वारांगना का नाम था। भरी सभा में आकर उसने कहा—"क्या यहाँ ऐसा भी कोई पुरुष है, जो मेरे सौन्दर्य से आकर्षित न हो?"

सचमुच कुवलया अत्यन्त सुन्दर थी, अपसरा के समान अपूर्व उसका सौन्दर्य था। अनेक पुरुष उसके सौन्दर्य-जाल मे फँसकर सर्वनाश को प्राप्त हो चुके थे। ऐसी दशा मे यदि उसके मुंह से ऐसी अहंकार युक्त वात निकली, तो इसमें अस्वाभाविक कुछ नहीं था।

वारागना कुवलया की ऐसी अनोखी बात सुनकर सवकी दृष्टि उस पर जा लगी। सहसा समारोह मे आये हुए एक पुरुष ने कुवलया को जवाब दिया—"हाँ, है। गौतम नाम का एक श्रमण अवश्य ऐसा है।"

यह सुनना था कि कुवलया तुरन्त जेतवन को चल दी। वहाँ सामने ही बुद्धदेव तपस्या में निमग्न थे। कुवलया ने बुद्धदेव के आगे अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन और वेश्या के योग्य नाज़-नखरे करके

बुद्धदेव का मन डिगाने का प्रयत्न किया, परन्तु जैसे कुवलया का शारीरिक सौन्दर्य अनुपम था वैसे ही बुद्धदेव का आध्यात्मिक सौन्दर्य भी अनुपम था, अतः बुद्धदेव पर उसका कोई असर न हुआ। यही नहीं वल्कि कहते हैं, बुद्धदेव की मानवोपरि शक्ति के प्रभाव से वारांगना कुवलया का सौन्दर्य एकदम नष्ट हो गया। रूप-लावण्य और भरपूर जवानी से मस्त वनी हुई वह तरुणी एकदम अस्सी वरस की बुड्ढी डोकरी वन गई। उसके शरीर पर झुर्रियाँ पड गई और मुँह वेडोल भयावना हो लया।

बुद्ध भगवान् जैसे पुण्यात्मा के संम्पर्क मे आने के साथ ही इस वारांगना को अपने पिछले पापकृत्यों का पश्चात्ताप होने लगा, और उस पश्चात्ताप की अग्नि से उसको हृदय मे शूल चुभने लगे। अतः तुरन्त वह बुद्धदेव के चरणों में गिर पड़ी और उन्हें साष्टाग प्रणाम करके अपने पापों के प्रायश्चित्त का उपाय वताने की प्रार्थना की। उसका हृदय शान्ति पाने के लिए छटपटाने लगा।

बुद्धदेव तो सच्चे अर्थों मे महत्मा ठहरे। उन्हे कुवलया पर वड़ी दया आई और स्वयं ही उन्होंने उसे उपदेश देना आरम्भ कर दिया। बुद्धदेव के उपदेश से उसका चरित्र विलकुल सुधर गया और उनकी शिक्षा से थोड़े ही समय में वह परम-विदुषी वन गई। इस प्रकार भगवान् बुद्ध के प्रभाव से कुवलया वारांगना से परिव्राजिका वनी और फिर बुद्ध परिव्राजिका के रूप में जन-सेवा करके अच्छी ख्याति प्राप्त की।

१६

महाप्रज्ञावती

खेमा (क्षेमा)

खेमा मद्रदेश के राजा के घर पैदा हुई थी। जन्म से ही इसका शरीर सुन्दर और कान्तियुक्त था। माता-पिता की यह बड़ी लाड़ली थी। विवाह योग्य वय की होने पर तो इसका सौन्दर्य और भी खिल उठा। इसके रूप की प्रशंसा सुन-सुनकर, अनेक क्षत्रिय राजकुमार इसके साथ विवाह करने के अभिलाषी हुए। इसके लिए मद्राधिपति के पास उनके प्रस्ताव भी पहुँचे। यहाँ तक कि कौशलदेश के लोकप्रिय राजा बिम्बिसार ने भी खेमा से अपने विवाह की इच्छा प्रदर्शित की।

राजा बिम्बिसार बुद्धदेव का परमभक्त था। घर छोड़कर जंगल को चल देने पर राजगृह नगर में बुद्धदेव के साथ उसकी मुलाक़ात हुई थी और बोधिसत्त्व (बुद्धदेव) को समझा-बुझाकर वापस संसार में लाने का उसने प्रयत्न किया था परन्तु बुद्धदेव ने अपना परिचय देकर, घर-बार छोड़ने का उद्देश बतलाते हुए, कहा कि 'मैं मानव-जाति को दुःख-मुक्त करने का उपाय ढूँढना चाहता हूँ।' तब उसने उन्हें जाने दिया और प्रार्थना की, कि "राजकुमार! तुम्हें जगत् के उद्धार का मार्ग मिल जाय, तो सबसे पहले मेरा विहार-दान स्वीकारना

होगा।" गौतमबुद्ध के प्रथम श्रावक के रूप मे उसकी गणना थी। ऐसे योग्य राजा का आग्रह देख, मद्रराज ने अपनी गुणवती कन्या उसे ब्याह दी। तब खेमा या क्षेमा कोशलेश की पटरानी हुई।

अब क्षेमा के सुख का क्या कहना था! योग्य पति प्राप्त होने से इसके सद्गुणों का भी विकास हुआ। और पति-पत्नी निर्विघ्न सांसारिक सुखों का उपभोग करने लगे।

बिम्बिसार और क्षेमा को इस प्रकार सांसारिक सुख-भोग करते हुए कई वर्ष व्यतीत हो चुके थे तब सिद्धि प्राप्त करके अपने एक सहस्र शिष्यों के साथ बुद्धदेव राजगृह आये। राजा बिम्बिसार उनके दर्शनों को गया, और आग्रह के साथ भगवान् को अपने घर आकर भोजन करने के लिए निमंत्रित किया। बुद्धदेव के राजमहल में पधारने पर बिम्बिसार ने वेणुवन नाम का अपना सुन्दर उपवन तथा विहार बुद्ध-देव और उनके भिक्षु-संघ को भेंट कर दिया। इस वेणुवन मे बुद्धदेव ने बहुत समय तक निवास किया था।

क्षेमा ने बुद्धदेव के गुणों और उपदेश की प्रशंसा तो बहुत सुनी थी, परन्तु स्वयं कभी उनके दर्शन करने नहीं गई थी, क्योंकि उसे अपनी सुन्दरता का बड़ा भारी अभिमान था और बुद्धदेव को सौन्दर्य के प्रति न केवल कोई अभिरुचि ही नहीं थी प्रत्युत् वह अपने भाषणों में सौन्दर्य की अनेक बुराइया भी बतलाते थे, इससे क्षेमा को यह आशंका रहती थी कि जिस मेरे रूप-सौन्दर्य की सब कोई प्रशंसा करते हैं उसमे कहीं भगवान् कोई ऐब न लगादें। अपने इसी विचार के कारण, जब कभी वेणुवन जाने का अवसर आता, तभी कोई-न-

कोई बहाना निकालकर यह उस बात को उड़ा देती थी। दूसरी ओर राजा बिम्बिसार यह सोचता कि मैं तो बुद्धदेव का परमभक्त हूँ, मुझपर कृपा करके गुरुदेव (बुद्ध) मेरे उद्यान में ठहरे हुए हैं, परन्तु मेरी पटरानी उनके दर्शनों को भी नहीं जाती, यह कैसी अनुचित बात है ? अतः किसी प्रकार ऐसा कोई उपाय करना चाहिए, जिससे महारानी के मन से सौन्दर्य का मोह निकल जाय और गौतमबुद्ध मे श्रद्धा उत्पन्न हो। आखिर उसने एक उपाय ढूंढ निकाला। अपने दरबार के भाट-चारणों को बुलाकर उसने कहा—"वेणुवन के सौन्दर्य पर तुम मधुर कवितायें बनाओ और उन्हे इस प्रकार मीठे स्वर से गाओ, जो रानी के कानों में उनकी भनक पडे।"

एक तो वेणुवन पहले ही रमणीक स्थान था, फिर कविता मे कल्पना ने उसे और भी ऊँचा चढाया। यह सब जानते ही हैं कि संगीत और कविता का असर पाषाण-हृदय पर भी होता है। अतः भाटों के मुँह से वेणुवन की प्रशंसा के गीत सुनकर रानी के मन मे भी उस सुन्दर उद्यान को देखने की उत्कठा हुई और इसके लिए उसने राजा से कहा। राजा तो यह चाहता ही था, उसने खुशी के साथ अपनी रजामन्दी प्रकट की, परन्तु साथ ही यह भी कहा कि "यह खयाल रखना, वेणुवन जाती हो तो फिर भगवान् बुद्धदेव के दर्शन किये बगैर मत आना।" क्षेमा ने कोई उत्तर नहीं दिया, परन्तु राजा ने अपने नौकरों को समझा दिया था कि "रानी अपने आप बुद्धदेव के दर्शन करने जाय तब तो कोई बात ही नहीं, परन्तु ऐसा न हो तो तुम उनसे कहना कि 'आपको बुद्ध के दर्शनों को लेजाने की हमें राजा

ने आज्ञा दी है।' जैसे भी हो उन्हें बुद्ध भगवान् के दर्शन कराकर ही वापस लाना।"

रात-दिन अन्तःपुर में ही रहनेवाली महारानी क्षेमा इस रमणीय बाग को देखकर बड़ी प्रसन्न हुई। उसके मन को इससे बड़ी शान्ति मिली। पक्षियों के मधुर गान से उसके कान तृप्त हो गये और काफ़ी दूर तक चली जाने पर भी उसे थकावट महसूस नहीं हुई। जब वहां से लौटने लगी तो नौकर उसे ऐसे रास्ते लाये, जहाँ बुद्धदेव विराजमान् थे। बुद्धदेव ने उसे अपनी ओर आते देखकर अपनी ऋद्धि के जोर से एक स्वर्गीय सौन्दर्यवाली पुतली खड़ी कर दी, जो हाथ में पंखा लेकर बुद्धदेव पर हवाकर रही थी। इस दृश्य को देखते ही क्षेमादेवी के मन में विचार उठा—"मुझ से भी कहीं ज्यादा सौन्दर्य वाली यह सुन्दरी तो बुद्धदेव की इस प्रकार सेवा कर रही है और मैं उनके दर्शनों तक को नहीं गई। धिक्कार है मेरी इस जिन्दगी को।" फिर क्या था, क्षण मात्र में रूप-सौन्दर्य का सारा अभिमान नष्ट हो गया। उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ बाह्य सुख से हटकर अन्तर्मुखी हो गईं। बुद्धदेव के पास जाकर उसने उनके चरण छुए। कुछ देर बाद उसने देखा कि पूर्वोक्त तरुण स्त्री मध्यम अवस्था को प्राप्त हो गई है। फिर थोड़ी देर बाद वह बुढ़िया डोकरी जैसी दिखाई दी। उसका रूप नष्ट हो चुका था, शरीर पर कान्ति नहीं थी, बाल सफ़ेद हो गये थे, शक्ल बिगड़ गई थी, ताकत बिलकुल न रही थी; दाँत टूट चुके थे, कमर झुक गई थी। और कुछ देर बाद देखा तो उस बुढ़िया की मृत्यु हो चुकी थी।

यह सब देखकर अपने रूप के आगे संसार को तुच्छ समझने वाली अभिमानिनी क्षेमा सोचने लगी—"क्या मेरे शरीर की भी अन्त में यही दशा होगी? ओह, मैं कितनी मूर्ख हूँ, जो अज्ञान ही अज्ञान में अपनी इतनी आयु खोदी!" आखिर उसने बुद्धदेव की शरण ली। बुद्धदेव ने उसे उपदेश देकर धर्म का रहस्य समझाया। क्षेमा तीव्र बुद्धिवाली और विदुषी तो थी ही, अहंकार का परदा हट जाने से, अब उसको ज्ञान-मार्ग मे प्रवेश करते देर न लगी। कुछ समय बाद संसार के प्रति उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ, और विधिपूर्वक उसने थेरी-पद ग्रहण कर लिया। थेरी होकर उसने एक गाथा गाई, जिसमें कहा गया है कि "जैसे मकड़िया अपने ही तैयार किये हुए जाल मे फँसती हैं वैसे ही भ्रमवश ऐहिक सुख मे ही लिप्त रहनेवाले लोग जन्म-मरण के चक्कर में फँसते हैं, परन्तु निर्लिप्त लोग इस प्रवाह को पारकर प्रव्रज्या ग्रहण करके काम से होनेवाले दुःख का नाश करते हैं।" इसके बाद अर्थ, धर्म, निरुक्ति और प्रतिभान नामक चार प्रकार का ज्ञान प्राप्त किया। 'परिसंभिदाशास्त्र' में पूर्ण पारंगत होकर 'अर्हत्' पद पाया और फिर बुद्धदेव की इच्छानुसार प्रव्रज्या लेने के लिए पति की आज्ञा प्राप्त करने गई।

राजा उसे देखते ही समझ गया कि रानी को,'अर्हन्' पद प्राप्त हो गया है, फिर भी उसने पूछा—"क्यों, बुद्धदेव के दर्शन कर आई?"

रानी ने कहा—"आप बारम्बार भगवान बुद्ध के दर्शन करने जाते हैं,[परन्तु वे ऊपरी दर्शन ही होते हैं, मैंने पूरी तरह उनके दर्शन किये हैं और आपकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह उन्हें

उत्पलवर्णा चतुर थी। यह वह कभी की जान चुकी थी कि उसके विवाह-सम्बन्ध को लेकर कैसी विषम स्थिति पैदा हो गई है, पर संकोचवश पिता के सम्मुख उसने यह चर्चा नहीं चलाई थी। आज जब पिता स्वयं उसके पास आया तो उसने उठकर उसका स्वागत किया और प्रणाम करके यथोचित आसन प्रदान किया। पिता की उदासी देखकर यह तो वह समझ ही गई कि पिता के हृदय पर बडा भारी बोझ इकट्ठा हो गया है और वह उसी बोझ को हलका करने के लिए उसके पास आया है। यह समझने में भी उसे कोई देर नहीं लगी कि यह चिन्ता आखिर है क्यों। फिर भी उसने पूछा—"पिताजी! आपको क्या हो गया है? आज आपका मुँह क्यों उतर रहा है?"

कन्या के कोमल और हृदयस्पर्शी शब्दों ने पिता के हृदय पर चोट की। बड़े यत्न के साथ मन को स्थिर रखकर उसने कहा—"बेटी! आजकल मैं किस परेशानी में पड़ा हुआ हूँ, मेरा खयाल है, यह तू समझ चुकी होगी। भारत के अनेक राजकुमारों और धनी- मानियों ने तेरे लिए मगनी भेजी हैं। मैं सबकी इच्छा-पूर्ति कैसे कर सकता हूँ? फिर तेरे जैसी सुन्दर विदुषी लड़की को मैं बिना सोचे-विचारे हर किसी को दे भी तो नहीं सकता। ऐसी दशा मे तेरे विवाह को लेकर बड़ा बखेड़ा उठने की संभावना है, इसलिए मैंने एक उपाय ढूँढा है।"

उत्पलवर्णा ने कहा—"कहिए, वह क्या उपाय है? पिताजी! आप झिझकें नहीं, जो कुछ बात हो दिल खोलकर कह दीजिए।"

पिता ने कहा—"तुझपर मेरा कैसा और कितना स्नेह है, यह तुझे मालूम है। अतः तेरे लिए यह सूचना करते हुए मेरे हृदय मे

कितना दुःख होता होगा, इसकी तू कल्पना कर सकती है। मगर क्या करूँ, स्थिति को देखते हुए मुझे और कोई उपाय नहीं सूझता। बता बेटी, तू संसार छोड़कर प्रव्रज्या (संन्यास) ले सकेगी?"

उत्पलवर्णा ने पिता की बातों को ध्यान के साथ सुना और बीच-बीच में उसके मुँह पर बदलती रहनेवाली भाव-भंगियों का भी सूक्ष्मता से अवलोकन किया। उसके कारण उसका पिता कैसी संकटापन्न स्थिति मे पड़ गया है, यह वह समझ गई। अतः बड़े साहस और कुमारी-सुलभ दिव्यता से कहा—"पिता जी! आप जरा भी फिक्र न करें। मैं कुलीन कन्या हूँ। जिसमें मेरे पिता का कल्याण हो, वही काम मुझे करना चाहिए, और वही मैं करूँगी।"

कहते हैं कि उत्पलवर्णा पूर्वजन्म में भी एक संस्कारवान् कन्या थी। अपने पूर्वजन्म में उसने गौतमबुद्ध के पूर्वावतार पद्मोत्तरबुद्ध की खूब सेवा की थी। उस समय पद्मोत्तरबुद्ध ने एक भिक्षुणी को ऋद्धि-मती कहकर अग्रस्थान दिया था। तभी से इसके मन मे भी वैसा ही ऊँचा स्थान प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न हुई थी। उसी दिन से यह साधु-सन्तों की खूब सेवा करने लगी, खूब दान-पुण्य किया, और अनेक प्रकार के सत्कर्म करके मरते समय भगवान् से इसने यही प्रार्थना की कि मुझे भी ऋद्धिमती भिक्षुणी का महान् पद प्राप्त हो। यह सब जानते ही हैं कि शुभ आकाक्षा के साथ उचित प्रयत्न किया जाय तो एक-न-एक जन्म मे; कभी-न-कभी, सफलता अवश्य मिलती है। उत्पलवर्णा को, अनेक जन्मों के बाद, गौतमबुद्ध के समय में ऐसा अवसर उपस्थित हुआ। पिता ने उसके प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा

प्रकट की, और पूर्वजन्म के संस्कार से प्रभावित होकर कुमारी उत्पल-वर्णा ने प्रसन्नतापूर्वक भिक्षुणी बनना स्वीकार कर लिया ।

पुत्री को भिक्षुणी बनने के लिए तैयार होते देख पिता की आँखों मे आँसू भर आये, अन्तःकरण मे स्नेह उमड पड़ा और उसके मुँह से शब्द तक नहीं निकले । स्नेह के साथ उसने पुत्री को अपने हृदय से लगा लिया और उसके शुभ विचार के लिए उसे धन्यवाद दिया। इसके बाद अपने साथ भिक्षुणी-संघ में ले जाकर उसे प्रव्रज्या दिलादी।

उत्पलवर्णा इस नवीन आश्रम मे खूब रम गई और उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मोह-माया के बन्धनों से मुक्त होकर वह स्वतंत्र वातावरण में पहुच गई है ।

उपसम्पदा प्राप्त किये बाद उसने आध्यात्मिक उन्नति के लिए अध्ययन करना आरम्भ किया । यहाँ यह बता देना भी अप्रासंगिक न होगा कि उपसम्पदा है क्या । उपसम्पदा के योग से भिक्षु और भिक्षुणी-संघ की एक निश्चित प्रकार की व्यवस्था होती थी । प्रव्रज्या लेने से तो सिर्फ भिक्षुणी-संघ में प्रवेश करने की ही अनुमति मिलती थी, पर सघ मे प्रविष्ट होने के साथ ही एकदम संघ के समस्त अधिकार प्राप्त नहीं होते थे । अनुभव और योग्यता प्राप्त होने पर 'उपसम्पदा' लेकर ही भिक्षु या भिक्षुणी को संघ-सम्बन्धी सब बातों मे मत देने का अधिकार मिलता था । अस्तु ।

संघ में रहते हुए उत्पलवर्णा ने बौद्धधर्म के मुख्य ग्रन्थों (त्रिपिटक) का अध्ययन किया । पश्चात् शील-सम्पदा प्राप्त की और समाधि-भावना का साक्षात्कार करने के मार्ग पर अग्रसर हुई ।

बौद्ध-धर्म में 'उपोसथ' की एक क्रिया होती है। उपोसथ के दिन जिस स्थान पर भिक्षुओं का संघ एकत्र हो उसे उपोसथागार (उपोसथागार) कहते हैं। चौदस और पूर्णिमा के दिन इस स्थान की व्यवस्था करने का काम बारी-बारी से भिक्षुओं और भिक्षुणियों के जिम्मे आता था। इस दिन 'प्रतिमोक्ष' ग्रन्थ का पाठ होता, जिसमें इस वात का उपदेश है कि भिक्षुओं और भिक्षुणियों को किन-किन नियमों का पालन करना चाहिए तथा किन-किन वातों से वचना चाहिए। किसी भिक्षु या भिक्षुणी से इसमे के किसी नियम का भंग होता तो सम्मेलन में संघ स्थविर उसे खड़ा करके उससे अपना अपराध स्वीकार कराता और संघ उसके लिए जो दण्ड निश्चित करता वह उससे भुगतवाया जाता था।

उत्पलवर्णा उपोसथ के दिन प्रतिमोक्ष सुनने के लिए वड़ी उत्सुक रहती और उपोसथशाला को झाड़-बुहारकर साफ करती तथा दीपक आदि लाकर रखती थी। दीये की जोत के पास बैठकर वह ध्यान करती। इस प्रकार ध्यान करते हुए तेज के विस्तृत स्वरूप को अपने हृदय में उतारकर उसने समाधि-अवस्था प्राप्त की, समाधि-दशा का अभ्यास करके प्रज्ञा का सम्पादन किया, और फिर 'अर्हत्' पद का साक्षात्कार किया। 'अर्हत्' पद का फल प्राप्त होने के वाद उसे ऋद्धि-सिद्धि मिल गई और चमत्कार करने मे वह पारंगत हो गई।

एक दिन की वात है कि भगवान् गौतमबुद्ध ने 'यम कपाटी हाटिय' नामक चमत्कार किया, अर्थात् भिन्न स्वभाववाली दो वस्तुओं को एक साथ मिलाकर वतलाया। जिस दिन बुद्धदेव ने यह चमत्कार

किया उसी दिन भिक्षुणी उत्पलवर्णा ने भी सिंहनाद किया कि 'गुरुदेव। आपके बाद मैं भी एक चमत्कार करके बताऊँगी'—और, अपने इस कथन को प्रत्यक्ष सिद्ध भी कर दिया।

एक दिन भगवान् बुद्धदेव जेतवन में संघ के सामने बैठकर भिक्षुणियों को उनकी योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न स्थानों में भेजने लगे। उस समय उत्पलवर्णा की बारी आने पर, उसके उपर्युक्त सिंहनाद का उल्लेख करके, बुद्धदेव ने उसके लिए ऋद्धिमति भिक्षुणी के श्रेष्ठपद की योजना की। इस प्रकार उत्पवर्णा की अनेक जन्मों की आकांक्षा पूर्ण हो गई।

थेरी-गाथा में उत्पलवर्णा की रचना है, इन्द्रियों के वशीभूत होकर विषयलोलुप होने से मनुष्य की कैसी अधोगति हो जाती है, उसे कैसी शोकजनक स्थिति मे पड़ना पड़ता है, यही इसकी गाथा में बताया गया है। साथ ही यह भी इसने बताया है कि ऋद्धि और अभिज्ञा प्राप्त होने पर कैसा आनन्द और सुख मिलता है। मार (कामदेव) ने इसे प्रलोभन में डालकर धर्म-मार्ग से विचलित करने का प्रयत्न किया, तब इसने डाटकर उससे कहा—"मार! याद रख, मैं तृष्णा छोड़ चुकी हूँ और तम का मैंने नाश कर दिया है। यही नहीं, बल्कि तेरा भी मैं नाश कर चुकी हूँ। तेरी सामर्थ्य नहीं, जो मुझे पवित्र धर्म-मार्ग से हटा सके।"

बौद्ध ग्रन्थों में क्षेमा भिक्षुणी के समान ही इसकी भी योग्यता मानी गई है।

१८

श्रद्धा से महान् बननेवाली

शृगाल-माता

बौद्ध धर्म में अटूट श्रद्धावाली और श्रद्धा के ही वल पर महान बननेवाली यदि कोई भिक्षुणी है, तो वह शृगाल-माता है।

कहते हैं कि प्रश्नोत्तर बुद्ध के समय मे हंसावती नगर मे यह रहती थी, और भगवान बुद्धदेव के धार्मिक व्याख्यानों से इसके हृदय मे अपूर्व श्रद्धा का उदय हुआ था। इसके वाद एक दिन विहार में धर्म-कथा होजाने पर वुद्धदेव ने भिक्षुणियों को उनकी योग्यतानुसार उन्हें विभक्त किया तव एक भिक्षुणी को श्रद्धावती भिक्षुणियों में प्रथम स्थान मिला। यह देख इसके मन में भी भावी जीवन मे ऐसा ही पद प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न हुई।

आकाक्षा शुभ हो तो किसी न किसी जन्म में वह अवश्य फली-भूत होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार भगवान् गौतमबुद्ध के आविर्भाव के समय इसने भी राजनगर के एक श्रेष्ठ कुल मे जन्म लिया। विवाह-योग्य होजाने पर इसके जैसे ही समान कुल, विद्या और गुणोंवाले एक युवक के साथ इसका विवाह हुआ। गृहिणी-धर्म का इसने यथोचित रूप में पालन किया और एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम शृगाल रक्खा गया।

श्रृगाल को भगवान् बुद्ध ने गृहस्थ के कर्तव्य-कर्मों सम्बन्धी एक अत्यन्त हृदयस्पर्शी और सुन्दर उपदेश दिया था। यह युवक अपने अपने पिता की आज्ञानुसार रोज सवेरे शहर के बाहर जाकर स्नान करके पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे इन छःओं दिशाओं को गीले वस्त्र तथा भीगे हुए बालों से नमस्कार करता था। एकदिन जब वह ऐसा कर रहा था तो बुद्ध उसे मिले और इन दिशाओं का असली अर्थ उसे बतलाया। उन्होंने कहा कि दिशाओं की पूजा का मतलब यह है कि जिस-जिस दिशा मे जो-जो विभिन्न तत्त्व बतलाये गये हैं उनपर आस्था रखकर उनकी रक्षा के लिए रात-दिन प्रयत्न करते हुए उन्हींके अनुसार गृहस्थाश्रम चलाया जाय। युवक श्रृगाल पर इस उपदेश का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वह भगवान् का उपासक बन गया और खूब प्रसिद्ध हुआ। इस पुत्र के कारण ही इसकी माता श्रृगाल-माता के रूप मे प्रसिद्ध हुई है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने पुत्र श्रृगाल से ही उसने भगवान् बुद्ध और उनके सम्बन्ध का अन्य हाल जाना होगा। पुत्र के प्रत्यक्ष दृष्टान्त से बौद्धधर्म के सिद्धान्तों में इसकी श्रद्धा होगई और वह इतनी बढ़ी कि यह भिक्षुणी बनकर संघ मे शामिल होगई।

सघ मे प्रविष्ट होने के बाद इसने क्या-क्या सत्कर्म किये, इसका कोई विवरण नहीं मिलता, परन्तु इतना अवश्य मालूम होता है कि प्रव्रज्या लिये बाद संघ मे रहकर इसने अपनी श्रद्धा का गुण बहुत बढ़ा लिया था।

एक दिन यह विहार में गई हुई थी। शास्ता दशबल बुद्धदेव उस

समय धर्मकथा कर रहे थे। शृगाल-माता एकाग्रचित्त होकर उनका धर्मोपदेश सुनने लगी और उसमे ऐसी तल्लीन होगई कि भगवान् के तेजस्वी शरीर पर उसका ध्यान लग गया। भगवान् ने देखा कि इसकी श्रद्धा पूर्णता को पहुँच गई है तो उन्होंने इस ध्यानवल के कारण इसे 'अर्हत्' की पदवी प्रदान की।

इसके वाद एक दिन जेतवन में बुद्ध भगवान् भिक्षुणियों को उनकी योग्यतानुसार विभक्त करने लगे। तव उन्होंने शृगाल-माता को निःसीम श्रद्धावाली भिक्षुणियों में सर्व-प्रथम स्थान प्रदान किया। इस प्रकार पूर्व जन्म की अभिलाषा शृगाल-माता के इस जन्म मे फलीभूत होगई।

१६

पतिव्रता भिक्षुणी

मराडपदायिका

इस बौद्ध सेविका का जन्म-नाम क्या था, यह मालूम नहीं पड़ा। 'अपदान' मे इसका नाम मण्डपदायिका लिखा हुआ है। दीक्षा लेने के वाद, अर्थात् 'उपसम्पदा' प्राप्त किये पश्चात्, इसका यह नाम रक्खा गया होगा, ऐसा मालूम पड़ता है।

वैशाली के एक धनी रईस के खानदान में इसका जन्म हुआ था। इसका शरीर वड़ा हृष्ट-पुष्ट था। एक नौजवान रईस के साथ इसका विवाह हुआ और वड़े प्रेम के साथ यह अपने पति की सेवा करने लगी।

एक दिन वुद्ध भगवान् वैशाली में आये। तव उनका मधुर उपदेश सुनकर वौद्ध धर्म मे इसे श्रद्धा उत्पन्न हुई और यह वुद्ध की शिष्या वन गई, परन्तु गृहस्थाश्रम-धर्म का यथाविधि पालन करती रही। तदुपरान्त एक दिन महाप्रजावती गौतमी का वहाँ आगमन हुआ और उन्होंने वहाँ की स्त्रियों में धर्मोपदेश किया। तव इसके मन में भी संसार-परित्याग की इच्छा प्रवल हो गई। अपने पति के सामने इसने अपनी यह इच्छा प्रकट की, परन्तु उसने सहमति नहीं दी, अतः यह

पतिव्रता अपने सासारिक कार्य तो करती रही, पर साथ-साथ एकाग्रचित्त से धर्म के रहस्य का भी चिन्तन करने लगी।

एक दिन यह रसोई में बैठी भोजन बना रही थी। अकस्मात् बड़ा भारी धड़ाका हुआ और आग की तपिश से चूल्हे पर चढ़ा हुआ वर्त्तन जोर की आवाज के साथ फट गया। भोजन सब जलकर खाक हो गया। इस अनोखी घटना का उसपर बहुत प्रभाव पड़ा और उसके मन में यह बात जम गई कि इस भूमण्डल की सब वस्तुयें क्षणभंगुर हैं। फलतः, इसी दिन से, उसके मन में सच्चा वैराग्य उत्पन्न होगया। सुन्दर वस्त्राभूषण और रत्नालंकारों का पहनना उसने छोड़ दिया। जब पति ने इसका कारण पूछा, तो उसने विनयपूर्वक कहा—"प्राणनाथ। संसार पर से मेरी आसक्ति उठ गई है। भोग-विलास या सुख-वैभव मे अब मेरा जरा भी जी नहीं लगता।" पति भी संस्कारवान् व्यक्ति था। पत्नी की इच्छा देखकर वह उसे महाप्रजावती गौतमी के पास ले गया और नम्रता के साथ प्रणाम करके उनसे कहा—"देवी। यह मेरी धर्मपत्नी है। संसार से विरक्त होकर, यह भिक्षुणी बनना चाहती है। अतः आप इसे दीक्षा दीजिए।"

तब धन-वैभव में पली हुई मण्डपदायिका ने विधिपूर्वक बौद्धधर्म की दीक्षा ली और रात-दिन गुरु की आज्ञानुसार धर्म-सेवा एवं धर्म-पालन करने लगी। आखिर 'अर्हत्'पद प्राप्त करके इसने अपने मनुष्य-शरीर को सार्थक किया।

'थेरी-गाथा' में इसकी एकश्लोकी रचना को प्रथम स्थान मिला है। उस श्लोक में यह अपनेको सम्बोधन करके कहती है—'ऐ थेरी!

(ज्ञानवृद्ध भिक्षुणी) । चोले (पाँव तक पहुँचनेवाला साधुओं के पहनने का वस्त्र) के द्वारा सारे शरीर को ढककर सुख से सो जा, अर्थात् वासनाशून्य होकर शान्त भाव धारणकर, क्योंकि जैसे किसी घड़े मे पानी न हो तो चूल्हे पर रखने पर भी उसमे से खदकने की आवाज नहीं निकती है उसी प्रकार तेरी वासनाओं का विकार भी नष्ट हो गया है ।"

२०

अकिंचन और अनासक्त

धर्मदिन्ना

राजा बिम्बिसार का कुछ परिचय पहले दिया जा चुका है। विशाख नाम के एक व्यक्ति से उसकी बडी मित्रता थी। विशाख बुद्धदेव का परमभक्त था, और इस धर्म-मार्ग में उसने काफी प्रगति करली थी। धर्मदिन्ना इसी परमश्रद्धालु उपासक की सहधर्मिणी थी। सौभाग्यवश उसका पति जैसा श्रद्धालु और भक्त था वैसा ही प्रेमी भी था। धर्मदिन्ना भी परमसुन्दरी, विदुषी और सदाचारी होने के कारण उस प्रेम के उपयुक्त ही थी। इस प्रकार पति-पत्नी परस्पर प्रेम शृंखला मे आबद्ध थे। रात-दिन पति को प्रसन्न रखना, उसको प्रिय होनेवाले काम करना, मीठी-मीठी बातें करके उसके कान तृप्त करना—यही उसके जीवन का एकमात्र उद्देश था। बुद्ध मे अभीतक धर्मदिन्ना की कोई भक्ति नहीं थी, पर विशाख ऐसा पति न था जो इसके लिए जोर-जबरदस्ती करता। उसे विश्वास था कि धर्मदिन्ना अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करनेवाली स्त्री नहीं है; जब उसे बुद्ध की शक्तियों का ज्ञान होगा तब वह स्वयं उनके दर्शनों की इच्छा करेगी।

धर्मदिन्ना को बड़ा आनन्द आया। वहाँ पहुँचकर उसने इन्द्रियों की प्रवृत्ति का दमन करने का अभ्यास किया और ध्यान करते-करते थोड़े ही समय में 'अर्हत्' पद को पहुँच गई। जन्म-मरण के चक्र से छूट गई तब उसने सोचा—"मेरे लिए इस एकान्त स्थान में जिन्दगी विताना व्यर्थ है। अब तो मैं किसी बड़े शहर मे जाऊँ तो भी मेरा चित्त विचलित नहीं हो सकता और न मेरे सत्कार्य में ही विघ्न पड सकता है। उल्टे राजगृह में रहने से मैं बुद्धदेव की चरण सेवा कर सकूँगी और अपने नाते रिश्तेदारों तथा अज्ञान-पाश में पडी हुई अपनी बहनों का उपदेश-द्वारा लाभ कर सकूँगी।" तब, इस उद्देश के साथ, वह राजगृह चली गई।

विशाख को जब मालूम हुआ कि धर्मदिन्ना लौट आई है, तो उसे मन मे आशंका हुई कि "जन्म से ही सुख-वैभव में पलने के कारण उससे भिक्षुणी-व्रत के कठोर नियमों का पालन नहीं हो सका होगा और उनसे तंग आकर वह यहाँ मेरे पास वापस आई होगी।" अतः वह उससे मिलने गया और एकान्तवास से वापस आने का कारण पूछा। इसके जवाब मे जब धर्मदिन्ना ने उसे अपना हेतु बतलाया तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ। पश्चात् पत्नी के धर्मज्ञान की परीक्षा लेने के लिए उसने उससे तत्त्वज्ञान सम्बन्धी कई प्रश्न पूछे। परन्तु धर्मदिन्ना ने ऐसी आसानी और शीघ्रता से प्रत्येक प्रश्न का उत्तर दिया, जैसे कोई छुरी से कमल की डण्डी को तुरन्त काट डालता है। उसने बतलाया कि धर्म के पाँच स्तम्भ (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) होते हैं। धर्म के तीन मार्गों का उसने स्पष्टी

करण किया। इसके बाद जब विशाख अपने अधिकार से आगे बढ़कर प्रश्न करने लगा तो धर्म-मार्ग में आगे बढ़ी हुई धर्मदिन्ना ने कहा—"आयुष्यमन्! ऐसे प्रश्नों का मैं उत्तर नहीं दे सकती, जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों को दृष्टिगोचर नहीं हैं। जैसे निर्वाण, ब्रह्मचर्य के कर्तव्य, निर्वाण के बाद क्या होता है, निर्वाण के अन्त में क्या सुख मिलता है, इत्यादि। इन प्रश्नों को तो आप भगवान् बुद्ध से करें, और वह जो उत्तर दें उसे हृदयंगम कर लें।"

विशाख ने यह सब हाल जाकर बुद्धदेव से कहा। बुद्धदेव यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—"इस लड़की के मन में भूत, वर्तमान या भविष्य काल के सहारों (स्तम्भों) की कोई तृष्णा नहीं है।" यह कहकर उन्होने एक धर्म-गाथा सुनाई कि "जिसका भविष्य, भूत या वर्तमान किसी भी काल के बन्धनों से कोई सम्बन्ध न हो उसे अकिञ्चन कहते हैं। जो कोई इस अर्थ में अकिं-चन और निरासक्त हो, उसीको मैं ब्राह्मण कहता हूँ।" और धर्मदिन्ना के ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा करके उन्होंने कहा—"विशाख! उपासिका भिक्षुणी धर्मदिन्ना बड़ी पंडिता और महाप्रज्ञावती है। तुमने मुझसे पूछा होता तो मैं भी उन प्रश्नों के वही उत्तर देता, जो धर्मदिन्ना ने दिये हैं। उसने जो अर्थ बताया है वही असली अर्थ है। उसीको तुम ग्रहण करो।"

इसके बाद एक दिन भगवान् बुद्धदेव जेतवन में विराजे हुए थे। भिक्षुणी-संघ वहाँ एकत्र हुआ था, और बुद्धदेव भिक्षुणियों की योग्यतानुसार उन्हे भिन्न-भिन्न वर्गों मे विभक्त कर रहे थे। बौद्धधर्म

के नवें अंग में धर्मदिन्ना प्रवीण थी। जीवात्मा है या नहीं, जीवात्मा को किस प्रकार जाना जा सकता है, आर्यों के धर्म के आठ अंग क्या हैं; संस्कार का क्या आशय् है, इत्यादि कठिन और गूढ प्रश्नों का वह स्पष्टीकरण कर चुकी थी। धर्म-कथा करने मे वह प्रसिद्ध हो गई थी। अपने सुन्दर व्याख्यान के कारण, वह अनेक श्रोताओं के चित्त धर्म की ओर आकर्षित करती थी, कितनी ही बहनों को भी उसने धर्म-कथा कहने में प्रवीण कर दिया। शुक्ला, वटकेसी आदि उसकी शिष्यायें थीं। जन-समाज को शिक्षा देकर धर्म-मार्ग मे लाने का काम धर्मदिन्ना ने बहुत अच्छी तरह सम्पादन किया था। इस लिए बुद्धदेव ने उसे भिक्षुणी-संघ में मुख्य स्थान प्रदान किया।

इसकी रची हुई एक गाथा का साराश इस प्रकार है—"जब मनुष्य के मन मे सर्वोच्च शान्ति की इच्छा पैदा हो जाती है तो फिर चित्त में वासना नहीं रहती और आत्मा उच्चमार्ग की ओर अग्रसर होने लगता है।"

२१

मार-विजयिनी

सेला (शैलजा)

यह आलवी-पति की कन्या थी। 'संयुक्त निकाय' (मज्झिम निकाय) ग्रन्थ में पिता के नाम पर इसे 'आलविका' कहा गया है। बुद्धदेव के वचनों मे श्रद्धा पैदा होने से इसका पिता गृहस्थ-उपासक बन गया था। जब बुद्धदेव आलवी नगर मे आये तो पिता के साथ राजकुमारी शैला भी उनका उपदेश सुनने गई थी। बुद्धोपदेश सुनकर इसे भी बुद्ध-धर्म पर श्रद्धा हुई और यह बुद्धदेव की शिष्या बन गई। तदुपरान्त धर्मशास्त्रों के अध्ययन एवं जिज्ञासा मे प्रगति करते हुए यह संसार-त्याग करके भिक्षुणी बन गई। इस अवस्था मे इसे अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई और मन, वचन, कर्म से वासनाओं का दमन करके यह 'अर्हत्' पद को प्राप्त हुई।

आलवी नगर श्रावस्ती से तीस योजन और काशी से बारह योजन पर था। अपनी पिछली अवस्था में यह श्रावस्ती में रहते हुए एक वृक्ष के नीचे बैठकर तपस्या करती थी। एक बार मार (कामदेव) गुप्त रूप से इसकी तपस्या भंग करने आया और कहने लगा—"सुकुमारी। इस एकान्त वन में तुम क्यों रह रही हो? इसमें क्या धरा है? इस संसार से तो तुम्हारा उद्धार कभी भी नहीं होना है।

अतः जवतक संसार में हो खूब सुख-भोग कर लो, नहीं पीछे से पछताओगी।

शैला बहुत समझदार और ज्ञानवान् थी। वह समझ गई कि निर्वाण-पद प्राप्त करने से मुझे रोककर विषय-वासना के जाल में फँसाने के लिए स्वयं कामदेव यहाँ आया है। अतः उसने जवाव दिया—"तू जिसे सुख कहता है वह संसार का विषय-भोग तो शूल और भाले की तरह मनुष्य के शरीर को वींध डालता है। ऐसे सुख की मेरे सामने कोई गिनती नहीं है। ऐसे निःसार सुख की ओर तो मेरा मन ही नहीं जाता। भोग-विलास की मेरी वासना मर चुकी है और अज्ञान-रूपी अन्धकार मिट चुका है, इसलिए मार। तेरी यहाँ कुछ नहीं चल सकती।"

सेला का यह जवाव सुनकर और दृढ़ता देखकर मार को और कुछ कहने की हिम्मत न हुई और परास्त होकर वह वहाँ से चल दिया।

२२

सच्ची सहधर्मिणी

भद्रा कापिला

गौतम बुद्ध के समय सागल नामक गाँव में कौशिक ब्राह्मण के परिवार में इसका जन्म हुआ था। यह ब्राह्मण बड़ा समृद्धिशाली था। अतः भद्रा का बाल्यकाल बड़े सुख-वैभव मे व्यतीत हुआ। वयः प्राप्त होने पर मगधदेश के एक धनवान् युवक के साथ इसका विवाह हुआ, जिसके दो नाम थे—कश्यप और पिप्पली। कपिल की लड़की होने से भद्रा भी कपिला अथवा कपिलानि नाम से प्रसिद्ध हुई है।

कश्यप और भद्रा का एक-दूसरे के प्रति अत्यन्त प्रेम था। इनका सासारिक जीवन बहुत अच्छा था, क्योंकि रूप, वय, सद्गुण आदि सभी बातों में दोनों एक-दूसरे के समान थे। अतः इनका प्रेम-सम्बन्ध बहुत ही दृढ था, और सारे नगर के लिए आदर्श-रूप हो गया था। इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति एवं लोक-सेवा मे इनका जीवन-यापन हो रहा था।

इसी समय गौतम बुद्ध ने धर्म-प्रचार का काम शुरू किया। अनेक युवक गृहस्थाश्रम के मोह को तिलाञ्जलि देकर बुद्धदेव की शरण आये और धर्म-प्रचार के पुण्य कार्य मे सम्मिलित हो गये। इस

धर्मिक आन्दोलन के समय भद्रा के पति ने भी अपनी प्रिय पत्नी के प्रेम-पाश को तोड़कर गृह-त्याग किया और गौतम का शिष्य बन गया। तब भद्रा को भी उस अटूट सम्पत्ति को लेकर ऐश-आराम में जीवन व्यतीत करना अच्छा न लगा, और समस्त सम्पत्ति नाते-रिश्तेदारों को बाँटकर, उसने भी गृहस्थाश्रम का परित्याग करके पति का अनुसरण किया। भर जवानी में सांसारिक सुखों को लात मारकर वह भिक्षुणी बनने को तैयार हो गई।

भगवान् बुद्ध भिक्षु संघ की स्थापना तो कर चुके थे, किन्तु भिक्षुणि-संघ अभी नहीं बना था। अतः कश्यप तो भिक्षु-संघ में प्रविष्ट हो गया, किन्तु भद्रा ने पाँच वर्ष तक भिक्षुणियों के पास रहकर धर्म-शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद महाप्रजावती गौतमी ने नियमपूर्वक भिक्षुणी-संघ की स्थापना की, तब भद्रा उसमे चली गई। प्रव्रज्या लिये बाद इसने उपसम्पदा प्राप्त की और फिर उत्तरोत्तर अधिकार प्राप्त करते हुए अर्हत्-पद को प्राप्त हुई। इस स्थिति में पहुँचजाने पर इसे अपने पूर्व-जन्मों का स्मरण हुआ।

उधर कश्यप ने भी बुद्ध संघ मे खूब प्रसिद्धि प्राप्त की। संघ मे बन्धन ढीले पड़ गये थे उन्हें दृढ़ करने का काम इसीके हाथों हुआ, और गौतम बुद्ध के परि निर्वाण पर इसीने पाँचसौ भिक्षुओं की महासभा बुलाकर बौद्ध-शासन में संकलित किया था। जैसे कश्यप भिक्षु-संघ का नेता बना, उसी प्रकार भद्रा भिक्षुणी-संघ में सर्वोच्च स्थान पर पहुँची थी। यही नहीं बल्कि धर्म-कथा करने में भी उसने खूब कुशलता और प्रसिद्धि प्राप्त की।

एक दिन जेतवन मे बुद्धदेव ने भिक्षुणियों को उनकी योग्यता-नुसार पदवियाँ देने का समारोह किया। उस समय उन्होंने भद्रा को पूर्वजन्म की स्मृतिवाली भिक्षुणियों मे अग्रस्थान प्रदान किया था।

थेरी-गाथा मे ६३ से ६६ तक के श्लोक इसके बनाये हुए हैं। उनपर से भद्रा के पति-प्रेम एवं धर्मवृत्ति का परिचय मिलता है। अपने पति को 'बुद्ध के पुत्र और उत्तराधिकारी' के रूप में सम्बोधन करके, त्रिविद्या के आधिपति होने के कारण, सच्चे ब्राह्मण के रूप में इसने उनका परिचय दिया है। अपना परिचय देते हुए यह कहती है—"कश्यप की भाँति मैंने भी त्रिविद्या प्राप्त की है, मृत्यु पर विजय पाई है, मार (काम) को उसकी सेना-सहित हरा दिया है, अतएव यह मेरा अन्तिम जन्म है। जगत् में संकट बहुत हैं, इस बात को समझकर हम दोनों ने प्रव्रज्या ली और उसके बाद 'क्षीणासव' (अर्हत्) बनकर, इन्द्रिय-दमन द्वारा शान्ति प्राप्त करके, हम निवृत्त (मुक्त) हो गये हैं।"

भद्रा ने अपनी समस्त आयु स्त्री-समाज की सेवा करने और उन्हें धर्म-मार्ग पर लाने में व्यतीत की। पति के साथ ही संन्यास लेने, उसके सब कामों मे स्वतंत्र रूप से मदद करने और उसके साथ-साथ 'अर्हत्' पद एवं निर्वाण प्राप्त करने के उत्तम सहचर्य द्वारा इसने सच्चे अर्थों में अपने सहधर्मिणी और सहचारिणी पद को सार्थक किया, इसमे सन्देह नहीं।

२३

कुण्डल-केशा

भद्रा

अपने घुंघराले सुन्दर बालों के कारण यह भद्रा कुण्डलकेशा कहलाती थी। पहले यह जैन-धर्म पालन करती थी, इसलिए 'पुराण निर्गन्थी' भी इसका एक नाम है।

इसके जीवन में थोड़ी विचित्रता है। राजगृह के एक धनी साहूकार के यहाँ इसका जन्म हुआ था। युवावस्था में पहुँचने पर यह अपने पुरोहित-पुत्र सार्थक पर मोहित हो गई। परन्तु, इसकी बदकिस्मती से, ब्राह्मणपुत्र सार्थक अच्छे चाल-चलन का नहीं था। एक दिन चोरी के अपराध में राज्य-द्वारा उसे सिंह के पिंजड़े मे डाल देने का हुक्म हुआ, ताकि सिंह उसे फाडकर खा जाय। सरकारी सिपाही सजा के लिए उसे वध्यभूमि ले जा रहे थे, उस समय भद्रा ने उसे देखा। अपने प्रेमी की ऐसी दशा देख इसे बडा क्षोभ हुआ और पिता को अपने गुप्त प्रेम का हाल बतलाकर इसने सार्थक की प्राण-रक्षा करने के लिए कहा। तब इसके पिता ने सरकारी अधिकारियों को अन्धा-धुन्ध रिश्व देकरके सार्थक की सजा माफ कराई और भद्रा के साथ उसका विवाह कर दिया।

पाठक-पाठिकायें शायद यह कल्पना करें कि इसके वाद तो इन दोनों का जीवन निर्विघ्न बीता होगा। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। सार्थक का चाल-चलन फिर भी नहीं सुधरा, वल्कि और विगडता ही गया। यहाँ तक कि एक दिन भद्रा पर ही उसने हाथ साफ करने का कुचक्र किया। भद्रा के गहने चुराने के अभिप्राय से छलपूर्वक उसने भद्रा से कहा—"प्रिये! एक वार मुझ पर एक वड़ा संकट आ पडा था। उस समय पर्वत की चोटी पर रहनेवाले एक देवता की मैंने मानता की थी, कि संकट टल गया तो अपनी पत्नी-सहित मैं आपके दर्शनों को आऊँगा। अतः सुन्दर और वहुमूल्य वस्त्राभूपण पहनकर तू मेरे साथ चल। चलो, हम दोनों पर्वत पर जाकर उस देवता को प्रणाम कर आयें।" भद्रा विना कुछ कहे सुने इसके लिए तैयार हो गई। तव दोनों पर्वत पर गये। वहाँ पहुँचकर भद्रा को पता लगा कि पतिदेव तो वस्त्राभूपण छीनकर उसे मार डालने की तैयारी में है। उसने कहा—"स्वामी! ये वस्त्राभूपण ही नहीं, मेरा जीवन भी आपही का है, मेरा वध करके इन्हें ले भागने का विचार आप क्यों करते है?" परन्तु सार्थक के पत्थर-जैसे हृदय पर भद्रा की वात का कोई असर नहीं हुआ। जव किसी भी तरह उसका इरादा नहीं वदला, तो भद्रा ने अपनी जीवन-रक्षा का एक दूसरा उपाय सोचा। उसने कहा—"प्राणनाथ! मुझे मार ही डालना है, तो मेरी एक प्रार्थना तो मान लो। आख़िरी वक्त कम-से-कम एक वार मुझे अपना आलिंगन तो कर लेने दो।" सार्थक ने यह वात मान ली और आलिंगन के लिए हाथ फैलाये। भद्रा को यह वडा अच्छा मौक़ा मिला। उसने एकदम धक्का देकर उस दुष्ट को पर्वत

से नीचे गिरा दिया। भद्रा की यह समय सूचकता प्रशंसनीय थी। स्वयं पर्वत-निवासी देवता ने प्रत्यक्ष होकर इसके लिए भद्रा की प्रशंसा की। टीकाकार धर्मपाल ने इस प्रसंग का उल्लेख करके लिखा है कि पुरुप ही सव जगह अपनी होशियारी दिखा सकता हो ऐसा वात नहीं है; जिन्हें हम रमणी कहते हैं, वे स्त्रियाँ भी काम पड़ने पर विलक्षण होशियारी वता सकती हैं।

दुष्ट को तो अपनी दुष्टता का दण्ड मिला, परन्तु भद्रा के सामने यह समस्या उपस्थित हो गई कि अव वह क्या करे। वह सोचने लगी—"मेरे लिए अव घर जाना व्यर्थ है, अव तो मुझे अपने सासारिक जीवन को छोड़ ही देना चाहिए।" यह सोच, वह जैनियों के निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय में शामिल होकर भिक्षुणी वन गई। वहाँ की साध्वियों ने जव उससे पूछा, कि "तुम किस श्रेणी मे दीक्षा लेना चाहती हो?" तो उसने कहा—"जो सवसे ऊँची हो।" मुण्डन कराके उसे दीक्षा दी गई। लेकिन इसके वाद जो वाल आये वे घुघराले थे, इसलिए साध्वियों ने 'कुण्डलकेशा' ही उसका नाम रख दिया।

साध्वियों के आश्रम मे रहकर भद्रा ने जैन धर्मशास्त्रों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया, परन्तु उससे इसे सन्तुष्टि नहीं हुई, इसलिए उनका साथ छोड़कर यह वाहर निकल पड़ी। शास्त्रार्थ करने की इसमे अद्भुत शक्ति थी। रास्ते मे जो-जो विद्वान पण्डित मिले उनके सवके साथ इसने धर्म-सम्वन्धी वादविवाद किया, परन्तु उनमे ऐसा पण्डित कोई न निकला जो इसकी शंकाओं का समाधान कर देता। तव इसने एक दूसरा तरीका अख्तियार किया। जिस गाँव मे यह जाती उसकी

सीमा मे रेत का ढेर लगाकर उसमें सरकण्डा गाड देती और गाँव के बालकों से कहती—"तुम यहाँ खेलते रहना और कोई शास्त्री, पण्डित या संन्यासी मेरे साथ शास्त्रार्थ करने की इच्छा करे तो उससे कहना कि वह इस सरकण्डे को अपने पैरों से कुचल डाले।" बालकों को यह कहकर यह गाँवों में धर्म-प्रचार के लिए चल देती और आठ दिन बाद वापस उस गाँव की सीमा में आकर देखती कि उसका लगाया हुआ सरकण्डा सही-सलामत है या नहीं। इसके वाद उसे उखाड़कर आगे के प्रवास को चल देती।

एक दिन भगवान बुद्धदेव का शिष्य सारिपुत्त वहा होकर जा रहा था। रेत का ढेर और सरकण्डा देखकर उसने बालकों से सब हाल मालूम किया सरकण्डे का रहस्य मालूम होनेपर उसने वालकों से कहकर उसे पैरों-तले कुचलवा दिया। शाम को भद्दा ने आकर जब सरकण्डा टूटा हुआ देखा, तो सारिपुत्त के पास जाकर कहा—"क्या आप मेरे साथ शास्त्रार्थ करना चाहते हैं?" सारिपुत्त ने कहा,—"हाँ।" तव भद्दा श्रावस्ती जाकर अनेक विद्वानों को अपना और वौद्ध साधु सारिपुत्त का वादविवाद सुनने के लिए बुला लाई।

विद्वानों के एकत्र होजाने पर शास्त्रार्थ शुरू हुआ। भद्दा ने पूछा—"पहले प्रश्न कौन करेगा—आप या मैं?" सारिपुत्त ने कहा—"साध्वी! पहले तुम्हीं प्रश्न करो, उसके वाद मैं करूंगा।" तदनुसार भद्दा ने अनेक प्रश्न किये, परन्तु सारिपुत्त ने सवका सन्तोषकारक उत्तर दे दिया। तब भद्दा को खामोश होना पड़ा। अन्त में सारिपुत्त ने कहा—"भद्दा! तुमने तो वहुत प्रश्न पूछ लिये, अव मैं भी एक

प्रश्न पूछूँ ?" भद्रा ने सम्मति दे दी, तब सारिपुत्त ने पूछा—"*एकम् नाम किम्* (अर्थात्, जिसे हम एक कहते हैं वह क्या है) ?" भद्रा ने इस सीधे-सादे पर गहन प्रश्न का उत्तर न दे सकी। वह घबरा गई और कहने लगी—"भगवन्। यह मैं नहीं जानती।" तब बौद्ध साधु ने कहा—"इसका ही तुम्हें ज्ञान नहीं तो और तुम क्या जानती होगी ?" इसके बाद उसने अपने धर्म का उपदेश किया। भद्रा साधु के चरणों पर झुक गई और कहने लगी—"मैं भगवान् का आश्रय लेती हूं।" पर साधु ने कहा—"भद्रा। मेरा आश्रय मत लो, मनुष्यों और देवताओं मे श्रेष्ठ महापूज्य भगवान बुद्धदेव हमारे गुरु हैं, उन्हींकी शरण जाओ।"

साधु सारिपुत्त की सलाह मानकर भद्रा बुद्धदेव के पास गई और उनसे धर्मोपदेश लिया। इसके बाद थोड़े ही समय में यह 'अर्हत्' पद को प्राप्त हुई। थेरी गाथा में १०७ से १११ तक के श्लोक इसी के बनाये हुए हैं।

२४

कथाकार और संघनायिका

पटाचारा

पटाचारा एक इतिहास-प्रसिद्ध स्त्री हुई है। बौद्धधर्म की भिक्षुणी
बनने से पहले इसका क्या नाम था, यह मालूम नहीं। प
श्रावस्ती के एक सेठ के घर इसका जन्म हुआ था।

युवावस्था प्राप्त होने पर अपनी जाति के एक धनी वणिक-पु
के साथ इसके माता पिता ने इसका विवाह करने का इरादा किया
परन्तु पटाचारा इससे पहले ही एक परजातीय युवक के प्रेम-पाश
बद्ध हो चुकी थी, अतः उस धनी वणिक-पुत्र के साथ विवाह करने
उसने इन्कार कर दिया। जिस समय का यह जिक्र है उस सम
जाति-उपजाति के बन्धन आज जैसे दृढ़ तो नहीं थे, फिर भी अपन
ही जाति के एक धनी युवक के बदले परजातीय गरीब युवक
अपनी कन्या का विवाह होना पटाचारा के माता-पिता को अच्छ
न लगा।

पटाचारा ने जब देखा कि माता-पिता मेरी इच्छानुसार विवा
न होने देंगे, तब एक दिन चुपचाप वह अपने इच्छित पति के सा
घर से भाग खड़ी हुई। भागकर दोनों दूर परदेश मे जा बसे औ

विधिपूर्वक अपना विवाह करके सुखपूर्वक जीवन बिताते लगे। यहाँ पटाचारा के दो पुत्र हुए।

पटाचारा माता-पिता को छोडकर चली तो गई, पर माता-पिता के प्रति उसे जो स्नेह था उसमें कोई कमी नहीं हुई। जब बहुत दिन उनसे अलग रहते हो गये, तो परदेश उसे अखरने लगा। पति से उसने यह बात कही, तो वह वापस वहाँ जाने को राजी हो गया। तब पति और अपने दोनों पुत्रों के साथ वह माता-पिता से मिलने के लिए चल दी। लेकिन रास्ते मे ही दुर्भाग्य ने उसे घेर लिया। पटाचारा के प्रिय पति को साँप के डस लेने से रास्ते में ही मृत्यु हो गई। पटाचार के दोनों पुत्र अभी दूध-पीते बच्चे थे। अतः जैसे-तैसे इस महाकष्ट को सहनकर करुणाजनक विलाप करती हुई पुत्रों के साथ वह रास्ता काटने लगी। लेकिन संकट अकेला नहीं आता। अपने छोटे बच्चे को एक वृक्ष की साया मे सुलाकर पटाचारा किसी काम से जरा दूर गई थी, कि पीछे से एक जंगली पक्षी आकर उस बालक को उठा ले गया। पटाचारा जंगल में रुदन करने लगी। परन्तु यह संकट भी मानों कम था, जो और भी अधिक एक विपत्ति उस पर आ टूटी। वह यह कि उसका बड़ा पुत्र भी, जो अब उसके जीवन का एकमात्र आधार था, नदी मे उतरते वक्त पानी के प्रवाह में पडकर वह हो गया।

अब तो पटाचारा के शोक की सीमा न रही। शोक से वह पागल होगई। संयोगवश यह स्थान जहाँ पिछली दुर्घटना हुई, श्रावस्ती से बहुत दूर नहीं था; इसलिए जैसे भी हो एकबार तो

श्रावस्ती जाकर माता-पिता के दर्शन कर लेने का उसने विचार किया। परन्तु भाग्य तो चार क़दम आगे ही चलता है। श्रावस्ती तो वह पहुँच गई, किन्तु वहाँ पहुँचकर मालूम पड़ा कि घर गिर पड़ने से माता-पिता उसमे दवकर मर चुके हैं। यह सुनना था कि पटाचारा के होश-हवास बिलकुल उड गये। वह सचमुच पागल होगई और सारे शहर में घूमती हुई जोर से अपनी दुःख-गाथा गाने लगी।

इस समय भगवान् बुद्धदेव श्रावस्ती मे ही थे। चारों ओर उनके नये धर्म और उनकी महिमा की बातें फैल रही थीं। शोकातुर पटाचारा भी अपनी दुःख-गाथा कहती हुई उनके चरणों में जा पड़ी। बुद्धदेव ने मीठे शब्दों से उसे आश्वासन दिया और ऐसा अमूल्य उपदेश किया कि वह अपना सारा दुःख भूल गई। इस उपदेश का एक वचन 'धम्मपद' मे दिया हुआ है। बुद्धदेव का कथन है कि जन्म-मरण देखे बग़ैर सौ वर्ष तक जीते रहने की अपेक्षा जन्म-मरण का सच्चा रहस्य समझकर एक दिन का जीवन-धारण करना कहीं ज्यादा सफल है।

पटाचरा अब संसार त्यागी थेरी (भिक्षुणी) बन गई। थेरी बनकर सर्व-साधारण की सेवा और उन्हें धर्मोपदेश करने में उसने अपना जीवन समर्पित कर दिया। सैकडों शोकातुर स्त्रियाँ पटाचारा से उपदेश सुनने के लिए आतीं, और उसके उपदेश एवं आश्वासन से थोड़े ही समय में अपना दुःख भूलकर उसकी शिष्या बन जातीं। 'पिटक' ग्रन्थ पढने पर मालूम पडता है कि एक बार पाँच सौ स्त्रियों की सभा मे पटाचारा ने ऐसा सुन्दर धर्मोपदेश किया था कि उन

सब स्त्रियों ने बुद्धदेव के नवीन धर्म की दीक्षा ले ली। अपने व्याख्यान-द्वारा एक साथ इतनी बड़ी संख्या पर ऐसा गम्भीर प्रभाव डालने का सौभाग्य उसके अलावा केवल थोड़े-से पुरुषों को ही प्राप्त हुआ होगा।

थेरी-गाथा में पटाचारा की बनाई हुई अनेक गाथायें संग्रहीत हैं। वे सब सरल प्राकृत भाषा में हैं। उनको पढ़ने से मालूम पड़ता है कि ढाई हजार वर्ष पहले भारतवर्ष की स्त्रियाँ कैसी सरस रचनायें कर सकती थीं। फिर यह स्मरण रखना चाहिए कि उसमे अकेली पटाचारा की ही नहीं प्रत्युत् अन्य थेरियों की भी रचनायें हैं। कुल ७२ थेरियों की गाथायें हमे मिलती है।

एक बार जेतवन के विहार में समारोह हुआ। बुद्धदेव ने उसमें भिक्षुणियों को उनकी योग्यतानुसार पदवियाँ देना शुरू किया। तब पटाचारा को *विनयधरा* (विनयी) भिक्षुणियों मे अग्रस्थान दिया गया। यही नहीं, आगे चलकर उत्तम कथाकार और संघनायिका के रूप मे भी वह सर्वत्र प्रसिद्ध होगई थी।

सत्पथ पर लानेवाली

पुण्णिका

बौद्धधर्म के भिक्षु-संघ मे जिस प्रकार सारिपुत्त, कात्यायान आदि बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी धर्मोपदेशक हो गये हैं उसी प्रकार भिक्षुणी-संघ मे क्षेमा, उत्पलवर्णा आदि भिक्षुणियां हुई हैं। कितनी बार तो बड़े-बड़े विद्वान् पुरुषों को भी अपनी अधिकारपूर्ण वाणी से उपदेश करके उन्होंने सन्मार्ग बतलाया था। पुण्णिका भी एक ऐसी ही भिक्षुणि थी।

पाली भाषा के ग्रन्थों मे इसकी जो पुण्य कथा वर्णित है, उसमे लिखा है, कि एक दिन सवेरे उठकर यह विहार की भिक्षुणियों के लिए पानी लेने नदी पर गई थी। वहां एक ब्राह्मण को, प्रात.स्नान करते देखकर इसने कहा:—

"इस ठण्ड में भिक्षुणि-संघ के भय से (भिक्षुणियां कहीं मुझे दोष न दें इस खयाल से) मैं पानी भरने के लिए इस जल मे उतरती हूँ, परन्तु ऐ ब्राह्मण ! तू जो सर्दी से ठिठुरे हुए गात्र से इस जल मे उतर रहा है वह किसके भय से ? तू तो सर्दी के मारे बिलकुल अकड़ा हुआ लगता है।"

२६

गणिका से समाज-सेविका

अम्बपाली

बुद्ध भगवान् एक वार वैशाली नगर मे अम्बपाली गणिका के आम्र-वन मे ठहरे हुए थे। अम्बपाली को भी उनके दर्शनों की इच्छा हुई और उनके दर्शनों के लिए वह उस वगीचे मे गई। उसके वस्त्राभूषण सामान्य थे, परन्तु उसका सौन्दर्य अपूर्व था। यहाँ तक कि एक वार तो बुद्ध भगवान् की नजर भी उसपर जम गई। उसके सौन्दर्य को देख मन-ही-मन वह कहने लगे—"कितनी सुन्दर है यह स्त्री! वड़े-वड़े राजा भी इसके रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर इसके वशीभूत हो जाते हैं, तो भी यह कितनी धैर्यवान और शान्त है। आजकल की स्त्रियों की तरह यह जवानी मे मस्त नहीं है, न इसके स्वभाव मे चंचलता ही प्रतीत होती है। सच्मुच जगत् मे ऐसी स्त्रियाँ दुर्लभ होती हैं।"

अम्बपाली आकर वुद्धदेव के पास वैठ गई। वुद्धदेव ने उसे धर्मोपदेश देकर उसके मन मे जो थोडी-वहुत चंचलता थी उसे भी दूर कर दिया। उसके हृदय की वासनाओं को उन्होंने समूल नष्ट कर दिया। फलतः अम्बपाली का हृदय पिघल गया। धर्मपर उसकी आस्था हुई।

बुद्धदेव के शरणागत होकर उसने कहा—"प्रभु कल आप शिष्य-मण्डली सहित मेरे यहाँ भिक्षा लेने आयेंगे तो मैं आपका बड़ा आभार मानूँगी।" बुद्धदेव ने मौन रहकर अपनी स्वीकृति जतलाई।

इतने मे वैशाली के कुछ धनवान् युवक सुन्दर रथ मे बैठकर इस आम्र-वन में आये। वे रंग-बिरंगे वस्त्रों और बहुमूल्य अलंकारों से विभूषित थे। बुद्धदेव ने उन्हें लक्ष्यकर अपने भिक्षु शिष्यों से कहा—"देखो ये लोग कितने ठाट-बाट से आये हैं, मानों देवता लोग ही पृथिवी पर क्रीडा करने न आये हों।" युवकों ने आकर बुद्धदेव को प्रणाम किया और उन्हें भोजन के लिए अपने यहाँ निमंत्रित किया, परन्तु बुद्धदेव तो इससे पहले ही गणिका अम्बपाली का निमंत्रण स्वीकार कर चुके थे, इसलिए इन धनी सेठों के निमंत्रण को उन्हें अस्वीकार करना पड़ा। सेठों ने चाहा कि बुद्धदेव गणिका को इन्कार करा दें। इसके लिए उन्होंने बहुत-कुछ बहस की, दलीलें कीं, और दलीलों से भी जब काम न चला तो नम्रता-पूर्वक खूब मनुहार की तथा भेंट का भी खूब प्रलोभन दिया, परन्तु बुद्धदेव ऐसे नहीं थे, जो धनवान् का मान रखकर ग़रीब भक्त का अनादर कर देते। राज-वैभव को तो वह पहले ही लात मार चुके थे, अब उनको धन की क्या परवा थी? अतः धनी युवकों से स्पष्ट रूप मे उन्होंने कह दिया, कि तुम सारा वैशाली नगर भी मेरी भेंट कर दो तो भी अब मैं अम्बपाली गणिका के निमंत्रण को अस्वीकार नहीं कर सकता।"

दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर नित्य कर्मों से निवृत्त हो तीन वस्त्र पहनकर बुद्धदेव अपने शिष्यों के साथ अम्बपाली के घर गये।

अम्बपाली ने वेश्यावृत्ति से अटूट धन कमाया था। राज महल-जैसा भव्य उसका प्रासाद था। घर के आसपास सुन्दर बगीचा लग रहा था। बुद्धदेव के सम्मान मे आज उसने अपने घर को सजाने मे कोई कसर वाकी नहीं रक्खी थी। तरह-तरह के भोजन उनके लिए तैयार किये थे। इस स्वादिष्ट भोजन से उसने बुद्धदेव को तृप्त किया और भोजनोपरान्त हाथ जोड़कर भगवान् बुद्ध से निवेदन किया—"महाराज। मेरे ये बाग़-बग़ीचे, प्रासाद और वस्त्राभूषण सब मैं आप को तथा आपके संघ को समर्पण करती हूँ। इस क्षुद्र भेंट को स्वीकार करके मेरी अभिलाषा पूर्ण कीजिए।" इस प्रकार प्रेम-पूर्वक दी गई भेंट को बुद्धदेव ने स्वीकार किया, और अम्बपाली को अत्युत्तम धर्मोपदेश देकर अपनी शिष्या बना ली।

बुद्धदेव तो वैशाली से फिर अन्य स्थान को चले गये, किन्तु अम्बपाली गणिका इस प्रकार नवजीवन प्राप्त करके सर्व-साधारण की सेवा एवं धर्म-चिन्तन मे प्रवृत्त हो गई।

२७

माता-पिता को उपदेश देनेवाली

रोहिणी

वैशाली के एक धनवान ब्राह्मण के घर इसका जन्म हुआ था। धर्म-ज्ञान इसे अपनी बाल्यावस्था मे ही हो गया था। साधु-सन्तों पर इसका विशेष प्रेम था।

एक दिन इसके पिता ने इससे कहा—"रोहिणी। रास्ते मे कोई श्रमण (भिक्षु) जा रहा हो तो तू उसे बुलाकर मुझसे कहती है कि इसके दर्शन करो, श्रमणों के गुण भी तू सदा गाया करती है, तो कहीं तू भी तो श्रमणी नहीं बनना चाहती है? श्रमण के आते ही तू उसे अन्नदान करती है। भला ये लोग तुझे इतने प्रिय क्यों हैं? जो आलसी और दूसरों के दान पर ही पेट भरनेवाले, लोभी एवं अच्छा खाना खाने के शौक़ीन हैं, उनपर तुझे इतना प्रेम क्यों है?"

रोहिणी ने जवाब दिया—"पिता जी। आपने यही-का-यही प्रश्न अनेक बार मुझसे पूछा है। अच्छा तो आज मैं आपके सामने इन साधुओं के सद्गुणों, उनकी बुद्धिमत्ता और उनके सत्कार्यों का थोड़ा विवेचन करती हूँ।

"ये लोग आपको निरुद्यमी और आलसी दीखते हैं, परन्तु वस्तुतः ये नित्य-प्रति उत्तमोत्तम कर्म करते हैं। राग-द्वेष का ये नाश करते हैं,

इसलिए मुझे प्रिय है। पाप के जो तीन मूल हैं, उन्हें ये जड-मूल से
उखाड़ डालते है। शुद्ध-चित्त और पाप-शून्य हैं। इसीलिए मुझे ये
इतने अधिक प्रिय हैं। काया, मन और वचन से ये पवित्र होते हैं
और इनका जीवन पुण्यकर्मों से परिपूर्ण है। पिताजी! ऐसे साधु
भला किसे प्रिय न लगेंगे? फिर ये लोग शास्त्र मे प्रवीण और धर्म में
दीन हैं। इनका जीवन आर्यशास्त्र के अनुकूल है, और ये एकाग्रचित्त
होते हैं। इसीलिए मैं इन्हे चाहती हूँ। इनका भ्रम मिट गया है और
इनकी इन्द्रियाँ संयम मे है तथा दुःख का निदान ये जानते हैं; इससे
इन श्रमणों पर मुझे स्नेह है। गाँव मे होकर रोज जब ये जाते हैं तो
किसी के सामने ऊँची नजर से नहीं देखते, और भोग-विलास ए
धन-दौलत के प्रति उपेक्षा-भाव रखते है। अपने लिए कोठियों में धन
धान्य का संचय नहीं करते, पर जो सार-रूपी धन है उसकी शो
करते रहते हैं। इसलिए ये मुझे प्रिय है। सोना-चाँदी को कभी स्प
नहीं करते, जो कुछ मिल जाय उसीसे काम चलाते है, भिन्न-भि
देशों और जुदे-जुदे कुटुम्बों से आकर एकत्र हुए हैं और एक-दूसरे
प्रेम रखते हुए हिल-मिलकर रहते हैं। इन्हीं सब गुणों के कारण श्रम
मुझे प्रिय लगते है।"

रोहिणी का यह उत्तर सुनकर उसका पिता बहुत प्रसन्न हुअ
और कहने लगा—"तुझ-सरीखा कन्या-रत्न मेरे घर पैदा हुआ, इ
पर मैं अपनेको धन्य समझता हूँ। बुद्ध भगवान, धर्म और संघ
तुझे अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति है। तुझमे जो यह उत्तम विचार उत्प
हुआ है, यह तेरे पूर्वजन्मों के पुण्य का प्रताप है। अब आज से इ

भी श्रमणों की सेवा करेंगे, जिससे हम भी पुष्कल पुण्य का संचय कर सकें।"

रोहिणी ने कहा—"पिताजी। यदि सचमुच ही आपको दुःख अप्रिय हो गया हो और पाप का डर लगता हो, तो बौद्ध धर्म के संघ का आश्रय लीजिए और बुद्ध के उत्तम उपदेशों के अनुसार सदाचार-पूर्ण जीवन बिताइए। तभी आपका जीवन सफल होगा।"

पुत्री का उपदेश सुनकर माता-पिता दोनों ने बौद्ध धम के संघ का आश्रय लिया और फिर सदाचरण एवं धर्म-चिन्तन से अपने पाप का निवारण करके श्रोत्रिय-स्नातक हुए।

रोहिणी भी माता-पिता को उपदेश देकर थेरी हो गई और अपने ज्ञान एवं कर्म के प्रताप से बाद में 'अर्हत्'-पद को प्राप्त हुई।

स्वर्णकार-कन्या

शुभा

शुभा राजगृह के सुनार की लड़की थी। अत्यन्त सुन्दरी होने के कारण इसका शुभा नाम रक्खा गया था। इसकी बुद्धि बहुत तीव्र थी और ज्ञान प्राप्त करने की इसे बडी लालसा थी।

बुद्धदेव के राजगृह आने पर एक दिन यह उनके दर्शनों को गई। बुद्धदेव को प्रणाम करके यह एक ओर बैठ गई। बुद्धदेव को जब इसके नीति-सम्बन्धी उच्चविचारों एवं विकासित ज्ञान का हाल मालूम हुआ, तो उन्होंने इसे धर्मोपदेश किया।

पहले तो बहुत समय तक इसने घर मे रहते हुए ही साधना की, परन्तु बाद मे सासारिक जंजाल धार्मिक उन्नति मे बाधक प्रतीत होने पर महाप्रजापति गौतमी से दीक्षा लेकर साध्वी बन गई। इस प्रसंग का वर्णन करते हुए अपनी बनाई हुई गाथा में इसने कहा है:—

"युवावस्था में सफेद कपड़े पहनकर एक बार मैं धर्म-कथा सुनने गई थी। उस समय मेरे अप्रमत्त चित्त मे सत्य का उदय हुआ। समस्त काम और भोग के प्रति मेरे मन मे दारुण वैराग्य उत्पन्न होगया। संसार-मार्ग मे यात्रा करते हुए जो भी विपत्तिया आसक्ती है, उनपर मैंने विचार किया, और तब ससार-त्याग करने की मुझे इच्छा हुई। पश्चात् मैंने जाति, दास, ग्राम, खेत और भोग-विलास की सब सामग्रियों का त्याग कर दिया। जो कुछ छोड़ने लायक था उस

सबका परित्याग करके मैंने प्रव्रज्या ले ली; और श्रद्धापूर्वक संन्यासिनी-व्रत का पालन करने से सुन्दर सद्धर्म की शिक्षा प्राप्त की। अपनी विपुल सम्पत्ति की ओर मैंने झाँका तक नहीं। सोने-चाँदी का एकबार त्याग करके भला कौन साधु पुरुष ऐसा है, जो फिर उनकी ओर ताकेगा? सोने-चाँदी से तो कभी चित्त को शान्ति नहीं मिलती। श्रमण को तो धर्म-रूपी चित्त मे वित्त मिलता है।

"जो लोग धन से वड़े बने हैं उनके मन में वड़ा क्लेश रहता है; क्योंकि धन के लोभवश सब एक दूसरे से दुश्मनी करते हैं। जो लोग भोग-विलास मे निमग्न हैं, उन्हें बहुत दुःख उठाना पड़ता है। मृत्यु, क़ैद, विविध वेदनायें, शोक, संकट और विलाप आदि सब दुःख उन्हें उठाने पडते हैं। अतः, हे ज्ञाति भाइयो! तुम शत्रु वनकर मेरे चित्त को भोग-विलास में क्यों फंसाना चाहते हो? सिर मुँडाकर मैं प्रव्रज्या करती हूँ, भिक्षुणियों के से वस्त्र पहनती हूँ, और घर-घर भीख माँगकर जो कुछ मिल जाय उसीसे अपना निर्वाह करती हूँ। कपडों में मेरे जगह-जगह पैवन्द लगे हुए हैं। इस प्रकार मैं ऐसी सन्यासिनी वन गई हूँ जिसका घर-बार कुछ नहीं है। महर्षि लोग मर्त्यलोक और स्वर्गलोक दोनों जगह के भोग-विलास का परित्याग करते हैं। युक्तचित्त और क्षेममय होकर वे अखूट सुख पाते हैं। अतः मुझे फिर से भोग मे निमग्न न होने दो, उसमें पडकर इस भवसागर से मेरी मुक्ति नहीं होगी। कामवासनायें तो हमारी दुश्मन हैं, वे हमें मारने और दहकती हुई अग्नि के समान जलानेवाली हैं।

× × × ×

"मोहवश होकर इस पृथ्वीतल के अनेक स्त्री-पुरुष काम-रूपी कीचड़ मे फँसते हैं। उन्हे यह ज्ञान नहीं होता कि जन्म-मरण का क्षय काहे से होता है। बस कामवश होकर वे दुर्नीति के मार्ग पर अग्रसर होते हैं, और इस प्रकार अपने ही हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारते हैं।"

इस प्रकार बहुत विस्तार से मधुरतापूर्वक इसने यह बतलाया कि कामनाओं और भोग-विलास से मनुष्य का कितना नुकसान होता है, और पुनः संसार के बन्धनों मे न फँसने का निश्चय करके एकाग्रचित्त से इसने लगातार धर्म-साधना की। आठवें दिन भगवान् बुद्ध ने इसे एक वृक्ष-तले तपस्या करते हुए देखा। वह बहुत प्रसन्न हुए और अपने शिष्यों से कहने लगे:—

"देखो, सुनार-कन्या शुभा वृक्ष-तले कैसी ध्यानमग्न हो रही है। धर्म के द्वारा उसने शान्ति प्राप्त की है। जगत् के सारे दुःख वह भूल गई है। उसे उत्पलवर्णा से दीक्षा लेकर प्रव्रज्या धारण किये आज आठवाँ दिन है। देखो, धर्म और त्रिविद्या से विभूषित विनयी शुभा की मृत्यु आज दूर चली गई है। अभीतक तो वह दासी थी, परन्तु अब वह मुक्त, जितेन्द्रिय एवं निर्मल भिक्षुणी बन गई है। उसके बन्धन टूट गये हैं और अब वह बिलकुल पाप-हीन बन गई है।"

कहते है कि भगवान् बुद्ध के मुख से उसकी ऐसी प्रशंसा सुनकर इन्द्रादि देवता भी बड़े प्रसन्न हुए और स्वर्णकार-कन्या होते हुए भी शुभा की पूजा की।

२९

कामान्ध को जीतनेवाली

शुभा जीवकम्बवनिका

यह एक वहुत प्रसिद्ध ब्राह्मण की कन्या थी। राजगृह नगर में इसका जन्म हुआ था। इसका शरीर बडा मजबूत और सुन्दर था। वुद्धदेव राजगृह मे थे, तव इसने उनसे दीक्षा ली थी, और संसार-त्याग किये वग़ैर घर में ही यह धर्म-साधना करती थी। वाद मे इन्द्रियजन्य सुखों के प्रति अरुचि होकर वैराग्य से प्राप्त होनेवाली शान्ति का इसे भान हुआ, तव महाप्रजावती गौतमी द्वारा स्थापित भिक्षुणी संघ मे यह प्रविष्ट हो गई।

विम्विसार राजा के वैद्य जीवक ने राजगृह मे एक सुन्दर उपवन वनवाया था, जो आम्र-वृक्ष अधिक होने के कारण आम्र कानन के नाम से प्रसिद्ध था। साधुओं की धर्म-साधना के लिए यह मनोहर एकान्त स्थान बडा अनुकूल था। एक दिन शुभा वहाँ जा रही थी, इतने में रास्ते मे एक उच्छृंखल धूर्त्त युवक उसे मिला। शुभा के सुन्दर रूप से ललचाकर वह उसका रास्ता रोककर खड़ा हो गया। यह देख शुभा ने उससे कहा—"भाई। मैंने तेरा क्या अपराध किया है, जो तू मेरा रास्ता रोकता है? प्रव्रजिता स्त्री के साथ ऐसा अधम आचरण क्यों करता है? मित्र। ऐसा काम तो किसी भी पुरुष को नहीं करना

चाहिए। अपने पवित्र गुरुजी से मुझे तो यही शिक्षा मिली है और इसी पवित्र ब्रह्मचर्य-व्रत की हम भिक्षुणी-संघ की परिव्राजिकायें अभ्यस्त हैं। फिर भला तू मेरा मार्ग क्यों रोक रहा है? मैं शुद्ध हूँ, पर तेरा मन मैला है। मैं वासना से मुक्त हूँ, पर तेरा मन मैला है। मैं वासना से मुक्त हूँ, पर तेरे हृदय में अधम वासनाये भरी हुई हैं। मैं पाप-भोग से रहित हूँ, फिर तू मुझे हैरान करने के लिए मेरा रास्ता रोके क्यों खड़ा है?"

कामान्ध युवक अपनी वासना-तृप्ति के लिए शुभा का मन अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगा। इसके लिए उसने सहानु-भूति और प्रलोभन दोनों का प्रदर्शन किया और कहा—"तू निष्पाप युवती है! तू क्यों भिक्षुणी बनी है? इन गेरुए कपडों को दूरकर, और चल, इस रम्यवन मे हम रमण करें। देख, फूलों से लदे हुए वृक्ष कैसी मीठी सुगन्ध फैला रहे हैं। मस्त वसन्त-ऋतु का समय है, चल, हम खूब सुखोपभोग करें। फूलों से लदे हुए वृक्ष वायु के थपेडों से, ऊपर से नीचे तक झूम रहे हैं। अकेली वन में जाने से तुझे भला क्या सुख मिलना है? नाना प्रकार के सिंह यहाँ फिरते हैं, मस्त हाथी यहाँ चक्कर लगा रहे हैं, ऐसे भयंकर वन में तू अकेली क्यों जाती है? अरी सुन्दरी! तू तो सोने की तरह जगमगाती हुई बनारसी साड़ी पहन, और चित्र-रथ मे बैठकर अप्सरा की भाँति इस वन का भ्रमण कर। कमललोचने! मुझे इस संसार मे तेरे समान प्रिय और कोई नहीं है। मैं तेरा दास हूँ। तेरे साथ-साथ इस बगीचे मे घूमूँगा। मेरा कहना मानकर मेरे घर चलेगी, तो महलों

में रहेगी और दास-दासियाँ सदा तेरी सेवा करेंगी। महीन बनारसी साड़ी पहनेगी, गले मे कण्ठियाँ धारण करेगी, मुख पर सुगन्धित-पदार्थ चुपड़ने को मिलेंगे, और सारा शरीर हीरे-मोती के आभूषणों से सुसज्जित होगा। चन्दन के पलंग पर इत्र छिड़के हुए मुलायम बिस्तर और सुन्दर चद्दरों तथा नये, तकिये और मसहरीवाली सेज तुझे सोने को मिलेगी। भला इस दुनिया में किसीको न मिलने वाले खिले हुए कमल जैसे अपने शरीर को ब्रह्मचर्य द्वारा सुखाकर नष्ट क्यों करती है?"

शुभा ने जवाब दियः—"भाई! तुझे मेरे ऊपर इतना अनुराग किसलिए है? मेरा यह शरीर तो शव-पुरी है, मेरा यह कलेवर स्मशान की मिट्टी में ही मिलनेवाला है, तो फिर मेरे इस शरीर पर तू बेभान होकर इतना मुग्ध क्यों हुआ जा रहा है?"

परन्तु युवक तो कामवासना से बिलकुल अन्धा हो रहा था। उसपर शुभा की बातों का कोई असर न हुआ। शुभा की कमल जैसी आँखों, हरिण जैसी चाल आदि के प्रशंसापूर्ण वर्णन कर-करके, वह उससे प्रेम-भिक्षा माँगने लगा। तब शुभा ने ज़रा क्रुद्ध होकर कहा:—

"कुमार्गगामी होना चाहता है? चन्द्रमा के साथ खेल करना चाहता है? मेरु-पर्वत को लाँघना चाहता है? बुद्ध-सुता को अपने घर में रखना चाहता है? मूर्ख, चल यहाँ से। मुझे भोग-विलास की ज़रा भी ख्वाहिश नहीं है। इहलोक या स्वर्गलोक कहीं के सुख मुझे नहीं चाहिएँ। धर्म का पालन करने से मेरी ये वासनायें कभी की मर चुकी है। दहकते हुए अंगारों और जहर के प्याले के समान मानकर

मैं विषय-वासनाओं का त्याग कर चुकी हूँ। तेरे पास से मुझे कुछ नहीं लेना। जिसे सत्य का ज्ञान न हुआ हो, जिसका कोई गुरु न हो, ऐसी किसी स्त्री के पास जाकर तू ये सब प्रलोभन बता; मेरे आगे तो तेरा वस नहीं चल सकता। मेरा तो मन साफ़ है। सुख-दुःख या प्रेम, किसीकी मुझे परवाह नहीं है। इस जन्म को अशुभ मानती हूँ और संसार के किसी भी सुख में मेरा मन नहीं लगता। मैं तो बुद्धदेव की श्राविका हूँ। धर्म के आठ अंगों मे मेरी गति है। दुःख और पाप से मैं रहित हूं। अखण्ड सुख में मैं रमी हुई हूँ।

"लकड़ी की रंग-विरंगी सुन्दर पुतलियाँ बहुतों ने देखी है। तरकीब से बाँधी हुई डोरी और कील के सहारे वे कठपुतलियाँ तरह-तरह के नाच नाचती है; परन्तु उन डोरियों और कीलों को निकालले तो वे ढीली पडकर विखर जाती है। तव उनके समस्त अंग अलग-अलग गिर पडते है। उस स्थिति में उनके किस अंग को लोग देखना चाहते हैं? इसी प्रकार मनुष्य-शरीर भी धर्म के बिना ढीला पड जाता है; ऐसा धर्म शून्य शरीर भला कहीं टिक सकता है? सव निष्फल है।

"दीवाल पर हरताल से रँगा हुआ कोई सुन्दर चित्र हो और मनुष्य भूल मे उसे ही सच्चा समझ ले, माया के वश स्वप्न मे स्वर्ण का वृक्ष देखे और उसपर ललचाने लगे, इसी प्रकार मुझमे लगाये गये रूप पर मुग्ध होकर तू क्यों नाहक मेरी ओर खिचता है? मेरी इन आँखों पर तू मुग्ध हो गया है—उन्हे कमल आदि की उपमा देता है, परन्तु वस्तुतः वे क्या है? एक खोखले वृक्ष में गुथी हुई दो गोलियाँ ही तो है। इन आँखों को ही तू चाहता है न? तो लेले इन आँखों को।"

यह कहकर अपनी अंगुलियों से अपनी आँखें निकालकर शुभा ने उस कामी पुरुष के हाथ पर रख दीं और कहा :—

"रे पुरुष ! चक्षुओं का तू आदर करता था, सो ले। अब तो तेरी तृष्णा का नाश हुआ कि नहीं ?"

शुभा का ऐसा साहसपूर्ण कृत्य देख युवक घबरा गया। उसकी सारी कामवासना भाग गई और शुभा को साष्टांग प्रणाम करके वह क्षमा-याचना करने लगा। उसने कहा :—

"अब मैं शुद्ध ब्रह्मचारिणी का अपमान कभी नहीं करूँगा। भगवान् तेरे नेत्र फिर से प्रदान करें। देवी ! मेरा अपराध क्षमा कर, तूने मेरे पाप का बड़ा कठोर दण्ड दिया है। सचमुच दहकती हुई आग को मैंने अपने गले लगाया है। हलाहल जहरवाले साँप को मैंने हाथ मे पकडा है। आह ! भिक्षुणी, मेरी क्या गति होगी ? मुझे क्षमा कर !"

इसके बाद अपने सत्कर्मों से भिक्षुणी शुभा ने मुक्ति प्राप्त की। पर और भिक्षुणियों को ऐसे प्रसंग न आयें, इसके लिए बुद्धदेव ने यह नियम कर दिया कि वे अकेली न रहा करें।

शुभा के चरित्र पर से मालूम पडता है कि कोमल स्त्री-जाति भी अपना शील भंग होने का अवसर उपस्थित होने पर किस प्रकार दुःखों को बर्दाश्त कर सकती है और उसका अन्तःकरण दृढ़ हो तो किसी पापी की इतनी ताक़त नहीं, जो उसका सतीत्व नष्ट कर सके। आशा है, पातिव्रत्य और सतीत्व-रक्षा के पक्षपाती हमारे भारतवर्ष की स्त्रियों के लिए इस देवी का चरित्र बहुत बोधप्रद साबित होगा।

३०

समुद्र-पार जानेवाली सर्वप्रथम धर्म-प्रचारिका

संघमित्रा

आज से कोई ढाई हजार वर्ष से भी पहले, भारतवर्ष के एक दिग्विजयी सम्राट् के घर पैदा हुई कन्या ने संसार के धन-वैभव को तुच्छ मानकर धर्म को ही पसन्द किया था और अपनी सारी जिन्दगी कुमारी रहकर धर्म-प्रचार के काम मे ही अपना अमूल्य जीवन समर्पित किया था।

यह राजकुमारी महाप्रतापी राजाधिराज अशोक के वंश में उत्पन्न हुई थी। एक मत ऐसा भी है कि यह अशोक की ही कन्या थी और हम भी इसी मत को मानते हैं, पर अंग्रेज़ इतीहासकार विनसेण्ट स्मिथ ने इसे अशोक की सगी वहन वताया है। उज्जैन मे इसका जन्म हुआ था। और महेन्द्र इसके भाई का नाम था। वहन-भाई दोनों पहले उज्जैन ही रहते थे, पश्चात् ईस्वीपूर्व २६८ मे अशोक मगध-साम्राज्य का सम्राट् वना और महेन्द्र व सघमित्रा को लेकर पाटलिपुत्र में आकर रहने लगा। उस समय इस नगर की रमणीयता और सुख-समृद्धि मे किसी वात की कमी नहीं थी। तरह-तरह के लोग यहाँ रहते थे। रंग-विरंगे राजमहल, वाग़-वगीचे, सेठ

साहूकारों की हवेलियाँ और तरह-तरह की चीजों के बाज़ार दर्शकों को आश्चर्य चकित करते थे। नगर के स्त्री पुरुष महेन्द्र और संघमित्र का रूपलावण्य देखकर अतिशय आनन्द प्रकट करने लगे। सम्राट् अशोक ने दोनों भाई-बहन की मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए उनकी सुशिक्षा का सुप्रबन्ध कर दिया।

यहाँ अशोक के जीवन से सम्बन्धित दो-एक बातें बता देना आवश्यक हैं। अशोक चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार का पुत्र था। राजपुत्र होने पर भी वह कुरूप था, इसलिए राजा बिन्दुसार उसे बहुत प्यार नहीं करते थे। पिता और सौतेली माँ की उपेक्षा के कारण, ऐसा मालूम पडता है, अशोक भी अपनी यौवनावस्था मे बड़ा स्वार्थी और अधार्मिक था। अपनी रक्त-पिपासा और क्रूरता के कारण वह चण्डाकोश अर्थात् यमदूत के नाम से मशहूर था। दन्तकथा तो यह भी है कि यमराज का अनुकरण करके उसने एक नरकपुरी बनवाई थी, जिसमें अपराधियों को क़ैद रखकर मार-पीट की जाती और तरह-तरह के दुःखों से सता-सताकर उन्हे मार डाला जाता था। लेकिन इसी अशोक मे असाधारण शक्ति और नाना प्रकार के सद्गुण भी थे। राजा बिन्दुसार ने अपने से दूर रखने के ख़याल से उसे उज्जैन का सूबेदार बना दिया था। वहीं देवी नामक एक युवती के मनोहर रूप पर वह आकर्षित हुआ और उससे विवाह कर लिया। तदुपरान्त जब पिता बिन्दुसार की मृत्यु हुई तो भाई के ख़ून से हाथ रंगकर अशोक पिता के राजसिंहासन पर बैठा। ईस्वी सन् पूर्व २६९ में उसका राज्यभिषेक हुआ।

राज्यभिषेक के बाद ई० स० पू० २६१ में अशोक ने कलिंग देश (उड़ीसा) के राजा के साथ भीषण युद्ध करके कलिंग को अपने अधीन कर लिया। इस युद्ध में लाखों मनुष्यों का संहार हुआ। इस भयंकर जन-संहार को देखकर अशोक का पत्थर-दिल भी पिघल गया और उसके हृदय मे वैराग्य का उदय हुआ। तब उसने दूसरों के राज्यों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा का बिलकुल परित्याग कर दिया और उसके जीवन में आध्यात्मिकता की शुरूआत हुई। एक महाप्रतापी, शक्तिशाली बौद्ध संन्यासी ने उसके हृदय पर अधिकार जमाया और देखते ही देखते उसके जीवन में महान् परिवर्तन हो गया। बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर उसने महापुरुष बुद्ध के महान आदर्श को स्वीकार किया और विश्वप्रेम से उसका हृदय परिपूर्ण हो गया।

बौद्धधर्म का प्रचार इस समय बहुत जोर से हो रहा था। बौद्ध-धर्म के उपदेशक विश्व-प्रेम का प्रतिपादन करके यज्ञ-याग और पशु-वध का खण्डन कर रहे थे। उनके उपदेशों के फलस्वरूप जीव-हिंसा बहुत-कुछ रुक गई थी। यही नहीं, निम्न जातियों को उच्चवर्णों के त्रास से बचाने का भी उन्होंने बहुत-कुछ प्रयत्न किया था। चारों ओर मैत्री, करुणा और अहिंसा के मंत्र का प्रचार हो रहा था। अशोक के हृदय तक भी प्रेम और करुणा की यह आवाज़ पहुँची और उसने बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया। दीन-दुखी नर-नारी और पशु-पक्षियों के दुःख-क्रन्दन से उसका हृदय द्रवित हो उठा और उनके संकट-निवारण के लिए उसने अपना राजभण्डार खुला कर दिया। करोड़ों

सुवर्ण-मुद्रायें दान-पुण्य मे जाने लगीं। पशु-पक्षियों की चिकित्सा के लिए चिकित्सालय खुले। मनुष्य-जाति के ज्ञान, धर्म एवं नीति की उन्नति और उनकी सुख-वृद्धि के लिए अशोक ने जितने उपाय किये उतने बहुत कम राजा-महाराजाओं ने किये होंगे।

ऐसे सम्राट् की देख-भाल मे ही सघमित्रा और राजकुमार महेन्द्र का लालन-पालन हुआ था। बहन-भाई को देखते ही ऐसा लगता था, मानों एक ही फूल की दो सुन्दर कलियाँ न हों। दोनों का स्वभाव बडा मधुर था। दोनों ही पर अशोक का बड़ा स्नेह था। साथ-साथ ही दोनोंने विविध विषयों की शिक्षा पाई। उच्च शिक्षा के फलस्वरूप संघमित्रा का हृदय बहुत उदार और संस्कृत हो गया था। उसे निर्मल ज्ञान प्राप्त हुआ और हृदय में धर्म-भाव की जागृति हुई। इस समय संघ-मित्रा की आयु १८ और महेन्द्र की २० वर्ष थी। महाराज अशोक ने महेन्द्र को युवराज-पद पर अभिषिक्त कर स्वयं भिक्षु बनने का संकल्प किया, परन्तु इतने मे ही बुद्धदेव की पवित्र आत्मा ने बहन-भाई को धर्म-प्रचार का महान् व्रत ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया। तब बौद्धधर्म के एक आचार्य ने महाराज अशोक से कहा—"राजन्! बौद्ध धर्म का सच्चा मित्रा तो वही है, जो धर्म की खातिर अपने पुत्र-पुत्री को भी समर्पित करदे।" आचर्य की इस बात ने अशोक के हृदय पर असर किया। स्नेहपूर्ण नेत्रों से उसने सघमित्रा और महेन्द्र के तेजस्वी मुख की ओर देखकर पूछा—"क्यों, क्या तुम भिक्षु-धर्म स्वीकार करने के लिए तैयार हो?"

बहन-भाई दोनों ने पिता के मुह से निकली हुई यह बात सुनकर

अपनेको वड़ा भाग्यवान् माना और वडी प्रसन्नता के साथ महाराज अशोक से कहा—"पिताजी। आपकी आज्ञा प्राप्त होते ही हम इस महान् व्रत को ग्रहण करके अपना मनुष्य-जन्म सफल करेंगे।"

यह सुनते ही महाराज अशोक ने भिक्षु-संघ को कह दिया कि "भगवान तथागत बुद्धदेव के पवित्र धर्म के लिए आज मैं अपने प्रिय पुत्र-पुत्री को समर्पित करता हूं।

तव महेन्द्र और संघमित्रा वौद्धधर्म की प्रचलित पद्धति के अनुसार दीक्षा लेकर भिक्षु और भिक्षुणी वन गये। धर्मपाली और आयुपाली नामक दो धर्मशीला भिक्षुणियाँ संघमित्रा को वडी अच्छी तरह भिक्षुणियों की साधना के गहन तत्त्वों की शिक्षा देने लगीं।

यहाँ यह स्मरण रखना चहिए कि महात्मा बुद्ध के धर्म में अपना सब-कुछ त्याग देनेवाले संन्यासी-संन्यासिनियो के जो वर्ण थे वही भिक्षु और भिक्षुणी नाम से प्रसिद्ध थे। ये भिक्षु-भिक्षुणियाँ विवाह नहीं करते थे, कठोर वैराग्य-व्रत धारण करके रात-दिन धर्म-साधना और प्राणियों के कल्याण की चिन्ता में लगे रहते थे। संघमित्रा ने भी भिक्षुणी वनकर सब तरह के सुख की लालसा का परित्याग कर दिया और अपनी वासना पर विजय प्राप्त करके धर्म-साधना करने लगे।

साधारणतः तो भिक्षुणियों को यही उपदेश दिया जाता था कि "तृष्णा छोड दो। अल्प सन्तोषी वनो। व्यर्थ के वनाव-शृंगार से दूर रहो और एकान्त मे रहकर ध्यान तथा धर्म-साधना करो। आलस्य छोड़कर परिश्रमी वनो। अभिमान का परित्याग कर सुशील, विनयी

और नम्र बनो, और सब के प्रति सद्भाव रखते हुए सन्तोषपूर्वक जीवन-यापन करो। शुद्धाचरण के द्वारा अपने व्रत का पालन करो।"

भिक्षु-भिक्षुणियों को किस प्रकार की धर्म-साधना करनी पडती थी, इस बारे मे विद्वान् बंगाली लेखक श्री सत्येन्द्रनाथ ठाकुर लिखते हैं:—

"विषय-वासना से दूर रहते हुए भिक्षुओं को एकान्त में पंच भावनाओं की साधन करनी पड़ती थी। उनकी भावना के ये पाँच प्रकार थे। मैत्री, करुणा, मुक्ति, अशुभ और उपेक्षा।

"*मैत्री*—देवता हो या मनुष्य, सब प्राणी सुखी हों, शत्रु का भी भला हो, सब रोग-शोक और पाप-ताप से मुक्त हों।इस तरह के शुभ विचार को मैत्री-भावना कहते हैं।

"*करुणा*—दुःखी के दुःख के प्रति समवेदना प्रकट करना और रात-दिन ऐसे ही काम करने का विचार करना जिनसे प्राणियों के दुःखों का नाश हो और उनके सुख मे वृद्धि हो। इसे करुणा-भावना कहते हैं।

"*मुक्ति*—सौभाग्यशालियों के सुख मे सुखी होना, उनके सुख-सौभाग्य के स्थायित्व की कामना करना, इसे मुक्ति-भावना कहते है।

"*अशुभ*—शरीर व्याधियों का घर है, बिजली की चमक के समान क्षण-भंगुर है, बुलबुले के पानी के समान मिथ्या है, और मल-मूत्र-पसीना आदि गन्दी चीज़ों से भरा हुआ है,मानव-जीवन जन्म-मृत्यु के अधीन और दुःखमय एवं क्षण-भंगुर है, इस तरह के विचारों को अशुभ-भावना कहते हैं।

"उपेक्षा—सब जीव बराबर हैं, कोई प्राणी ऐसा नहीं जो अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक प्रेम या तिरस्कार का पात्र हो। बल-दुर्बलता, द्वेष-ममता, धन और ग़रीबी, यश-अपयश, जवानी-बुढ़ापा, सुन्दर-असुन्दर, सब गुण और सब अवस्थायें समान है। ऐसी साम्य-भावना रखने को उपेक्षा कहते हैं।"

रोज सुबह-शाम इस प्रकार के उच्च विषयों का चिन्तन करने से नर-नारी बहुत गहरे भावों में डूब जाते हैं जिससे उनका मन बहुत उन्नत और हृदय विशाल होता है, यह बात सहज ही समझी जा सकती है। इस साधना-प्रणाली के ही कारण सुजाता, विशाखा आदि अनेक बौद्ध महिलाओं ने उन्नत जीवन प्राप्त किया था। यही साधन राजकन्या संघमित्रा ने भी ग्रहण किया और उत्तरोत्तर धार्मिक जीवन की एक के बाद एक ऊँची सीढ़ी पर चढ़ने लगी।

संघमित्रा का बड़ा भाई महेन्द्र बत्तीस वर्ष का हो जाने पर धर्म-प्रचार के लिए सिंहलद्वीप गया। सिंहलदेश का राजा तिष्ट, आध्यात्मिक ज्योति से प्रकाशित महेन्द्र का शान्त-सुन्दर स्वरूप देखकर, बडा विस्मित हुआ और अत्यन्त आदर एवं श्रद्धा के साथ उसने महेन्द्र को अपना मेहमान बनाया। फलतः सिंहल के हजारों स्त्री-पुरुष महेन्द्र का उपदेश सुनकर बौद्ध धर्म ग्रहण करने लगे।

कुछ दिनों बाद सिंहल की राजकुमारी अनुला ने अपनी पाँच सौ सखियों के साथ भिक्षुणी-व्रत लेने का संकल्प किया। अब महेन्द्र को महसूस होने लगा कि इतनी स्त्रियों को भलीभाँति धर्म-शिक्षा देने और सिंहल की स्त्रियों मे धर्म-प्रचार करने के लिए किसी सुशिक्षित एवं

धर्मशील भिक्षुणी की बहुत जरूरत है। तब इसके लिए उसने अपनी प्यारी बहन संघमित्रा को सिंहल भेजने के लिए अपने पिता सम्राट् अशोक को पत्र लिखा। राजकुमारी संघमित्रा को तो अब धर्म के सिवा और किसी पार्थिव वस्तु पर आसक्ति रही ही नहीं थी, अतः जब उसने सुना कि धर्म-प्रचार के लिए दूर परदेश सिंहल मे भाई महेन्द्र के पास जाना होगा तो उसका हृदय आनन्द में सराबोर हो गया। पुण्यशीला संघमित्रा प्रसन्नता के साथ मा-बाप और सगे-सम्बन्धियों के मायाजाल को नष्टकर, सिंहल जाने के लिए समुद्रगामी जहाज मे सवार हो गई।

संघमित्रा से पहले भारत की और कोई भाग्यवान् स्त्री धर्म-प्रचार के लिए इतनी दूर परदेश मे गई थी या नहीं, यह हम नहीं जानते। पर यह शुभ दिन सच पूछो तो भारतीय स्त्रियों के इतिहास में स्मरण रखने योग्य दिन है, इसमे जरा भी सन्देह नहीं। कवि-कल्पना से काम ले तो इस दिन, संघमित्रा को लेकर, यह जहाज कोई नवीन गौरवानुभव करते हुए सागर की तरंगों पर आनन्द के साथ झूमता-झूमता जाता होगा। यह भी सम्भव है कि समुद्र-तट के निवासी आर्य नर-नारियों ने जहाज के इधर-उधर खड़े होकर संन्यासिनी राजकन्या के मस्तक पर पुष्पवृष्टि भी की होगी।

संघमित्रा के सिंहलद्वीप मे पहुँच जाने पर उसकी तेजस्वी मुख-मुद्रा, तपस्विनी-वेश और अपूर्व धर्म-भाव को देखकर वहाँ के स्त्री-पुरुषों के हृदयों में किस प्रकार की भक्ति और विस्मय के भाव उत्पन्न हुए होंगे, यह जानने का कोई साधन तो हमारे पास उपलब्ध नहीं है;

३१

धर्म के लिए मरनेवाली

श्रीमती

राजा विम्बिसार बुद्धदेव का परमभक्त था। एक दिन बुद्धदेव की बहुत विनती करके उसने उनके पैर के नाखून का एक टुकड़ा माँग लिया था। उस टुकड़े को बड़ी सावधानी से अपने राजमहल ने बगीचे में गाडकर, उसके ऊपर सुन्दर शिलपकला से विभूपित एक स्तूप बनवाया। संध्या समय राजकुटुम्ब की बहू-बेटियाँ स्वच्छ वस्त्र धारणकर अपने सुकुमार हाथों मे फूलों की छबड़ियाँ ले उस स्तूप के पास जातीं और सुवर्ण के दीयों मे बत्ती संजोती थीं और दीपक जलाती थीं।

राजा विम्बिसार की मृत्यु के बाद उनका पुत्र अजातशत्रु गद्दी पर बैठा। पिता जितना बुद्धभक्त था, पुत्र उतना ही बौद्ध धर्म का दुश्मन निकला। तलवार के जोर पर उसने बौद्धधर्म को अपनी राजधानी से निकाल डाला। वैदिक यज्ञों की फिर से शुरुआत की, और बौद्ध धर्मग्रन्थो को उनमे स्वाहा कर दिया। सारे शहर मे उसने ढिंढोरा पिटवाया कि "इस जगत् में वेद, ब्राह्मण और राजा इन तीनों के अलावा और कोई पूजा कराने का अधिकारी नहीं है। जो

इसपर ध्यान नहीं देगा, या इसके विरुद्ध करेगा, उसे दण्ड दिया जायगा।"

राजा विम्बिसार के यहाँ श्रीमती नामकी एक दासी थी। बुद्धदेव के प्रति उसे बड़ी भक्ति थी। राजाज्ञा से डरकर नगर के अनेक स्त्री-पुरुषों ने बुद्धदेव की पूजा करना छोड़ दिया। यह देख श्रीमती का भक्त-हृदय काँप उठा। उसने निश्चय किया कि चाहे जो हो पर मैं तो अपना नित्य-नियम नहीं छोड़ूँगी। जिस दिन ढिंढोरा पिटा उसी रात को शुद्ध शीतल जल से स्नानकर हाथ मे फूल और दीपक की थाली ले श्रीमती राजमहिषी के पास गई और उनसे स्तूप की पूजा के लिए जाने की बात कही।

महारानी ने काँपते हुए कहा—"तुझे मालूम नहीं कि अजातशत्रु ने ढिंढोरा पिटवाया है कि जो कोई पूजा करेगा उसे सूली चढाया जायगा या देश निकाले की सजा दी जायगी?"

श्रीमती वहाँ से चलकर राजवधू अमिता के पास गई। वह उस समय श्रृंगार कर रही थी। श्रीमती के हाथ मे पूजा की सामग्री देख वह उसके आने का कारण समझ गई और उपालम्भ के साथ कहने लगी—"मूर्खा! तुझे यहाँ तक पूजा की सामग्री लाने का साहस ही कैसे हुआ? अभी की अभी यहाँ से चली जा, नहीं कोई देखेगा तो वडा गज़ब हो जायगा।"

श्रीमती दूसरे कमरे मे गई। राजकुमारी शुक्ला अस्ताचलगामी सूर्य के प्रकाश मे खिड़की खोलकर लेटी-लेटी कोई पद्य-पुस्तक पढ़ रही थी। श्रीमती को पूजा की सामग्री के साथ आते देखकर वह

चौंकी और उसके पास जाकर धीरे-धीरे कहने लगी—"अरी! क्या तुझे राजाज्ञा का पता नहीं है? भला जान-बूझकर मृत्यु के मुख मे जाने के लिए क्यों निकली है?"

इस प्रकार पूजा की थाली लेकर श्रीमती दरवाजे-दरवाजे भटकी और कहने लगी, कि "ऐ नगरवासियो! प्रभु की पूजा का समय होगया है। चलो, पूजा के लिए चलो।" पर यह सुनते ही लोग डरने लगते और कोई-कोई तो उसे अपशब्द भी कहते। श्रीमती लोगों की दुर्बलता का विचार करके विस्मित होने लगी।

होते-होते दिन का आखिरी प्रकाश भी लुप्त होगया। रास्ते में अन्धेरा छा गया और लोगों का आना-जाना बन्द होगया। कोलाहल शांत होगया, और राजमन्दिर में आरती का घण्टा बजने लगा।

शरदऋतु की इस अंधेरी रात में स्वच्छ आकाश मे असंख्य तारे चमक रहे थे।

इस समय किसी का बुद्धदेव के स्तूप के पास जाना संभव नहीं था। अतः दीर्घरात्रि में राजमहल के पहरेदार एक मनुष्याकृति को देखकर चौंक पड़े आगे बढ़कर देखा तो राजा के बग़ीचे के एक कोने में, घोर अन्धकार के बीच, बुद्धदेव के स्तम्भ के चारों ओर दीयों की ज्योति जगमगा रही थी।

सिपाही नंगी तलवारें लेकर उस ओर दौड़े तो क्या देखते हैं कि एक स्त्री स्तूप के पास बैठी हुई है। उस स्त्री के नेत्र बन्द थे और होठ कुछ-कुछ हिल रहे थे। राजा के सिपाहियों ने पूछा—"इस तरह आधी रात को यहां आकर राजाज्ञा का उल्लंघन करनेवाली तू कौन

है ?" श्रीमती ने शान्ति के साथ उत्तर दिया—"मैं बुद्ध की दासी श्रीमती।"

तुरन्त नंगी तलवार श्रीमती की गरदन पर पड़ी, और मन्दिर का सफ़ेद पत्थर खून से लाल हो गया।

शरद की उस स्वच्छ रात्रि के प्रसाद-कानन मे स्तूप के सामने के दीये आख़िरी बार बुझा दिये गये, पर श्रीमती का नाम अमर होगया।

३२

राजा-प्रजा-रक्षिका

वाक्पुष्टा

प्रकृति के क्रीड़ा-क्षेत्र काश्मीर मे, विक्रम संवत् के १२६ वर्ष पहले, तुजीन नामक एक प्रतापी राजा राज्य करता था। वह बड़ा पराक्रमी, उदार और दानशील था। वाक्पुष्टा उसीकी रानी थी। काश्मीर के इतिहास-लेखक ने लिखा है कि "इन दोनों राजारानी ने पृथ्वी को इस प्रकार विभूषित कर रक्खा था जैसे गंगा और अर्द्धचन्द्र ने शिवजी की जटा को सुशोभित कर रक्खा हो; अथवा, यों कहो कि इन दोनों ने नाना प्रकार के वर्ण से काश्मीर को इस प्रकार मनोरम बना दिया था जैसे बिजली और बादल मिल-कर इन्द्रधनुष की शोभा उत्पन्न करते हैं। राजा ने तुंगेश्वर नामका शिवालय बनवाया था और प्रजा को धूप से तपते देख सड़क पर छाया दार वृक्ष लगाने की विशेष व्यवस्था की थी। रानी वाक्पुष्टा भी उसीकी तरह परोपकारिणी थी। प्रजा को वह अपनी सन्तान के समान समझती और उसके कष्ट-निवारण के लिए सदा तत्पर रहती थी।"

इस प्रकार इस राजदम्पती का सांसारिक जीवन बड़े सुख के साथ व्यतीत होरहा था कि एकाएक इनपर एक भारी मुसीबत आ पड़ी। उनके राज्य की उपजाऊ भूमि में शरद्-कालीन फ़सल पर,

भादों के महीने मे, इतना अधिक वर्फ़ पडा कि सब फसल चौपट होगई। फलतः वहाँ घोर दुर्भिक्ष पडा। लोग दाने-दाने के मुहताज हो गये और हर रोज हजारों स्त्री-पुरुष काल-कवलित होने लगे। पेट की ज्वाला के आगे पत्नी का प्रेम, सन्तान का स्नेह, पिता का सम्मान आदि सब अच्छी बातें विस्मरण होगई। एक-एक मुट्ठी नाज के लिए लोकलाज, शर्म, स्वाभिमान, कुल-गौरव आदि को तिलाञ्जलि दी जाने लगी। जहाँ देखो वहीं अस्थि-पिंजर शरीरवाले मनुष्य मूर्तिमान् प्रेत बने हुए रोटी के एक-एक टुकड़े के लिए लडते-झगडते मिलते।

तुंजीन और वाक्पुष्टा ने प्रजा का यह भीषण हाहाकार देखा तो अपना सब आनन्द भूल गये। प्रजा का आर्त्तनाद सुनकर वे राज-महल से निकल पड़े और अपना सारा राजकोप, सब मालमत्ता, दुर्भिक्ष-पीडित प्रजा को अन्न पहुँचाने के लिए मुक्तकर दिया। राजा-रानी स्वयं रास्ते-रास्ते और घर-घर जाकर पीडितों को अन्न बाँटने लगे। जंगल, स्मशान, गली-कूँचा, घर-बार कोई स्थान ऐसा नहीं रहा जहाँ राजा-रानी ने स्वयं जाकर भूखों को भोजन न कराया हो।

इस प्रकार प्रजा की सेवा करते-करते राज्य का सारा खजाना खाली हो गया, और अन्न भी सब खत्म हो गया। तब राजा बड़ा निराश हुआ। उसका धीरज टूट गया। एक-दिन सारे दिन परिश्रम करके भूखा-प्यासा वह घर आया और प्रजा का आर्त्तनाद सुनकर बहुत दुखी होने लगा। उसकी आँखों मे से तरतर आसूँ बह रहे थे। रानी वाक्पुष्टा इस समय शयनागार में भगवान् से प्रार्थना कर रही थी कि “भगवन्। हम पर दया करो। हमारी गरीब

'राजतरंगिणी' के लेखक का अनुमान है कि पतिव्रता वाक्पुष्टा ने अपने पुण्य प्रभाव से कबूतर-जैसी किसी और ही चीज की सृष्टि करके प्रजा का संकट निवारण किया था, क्योंकि प्राणि-मात्र पर दया रखने ओर अहिंसा का व्रत धारण करनेवाले राजा-रानी असख्य कबूतरों की हिंसा का कलंक अपने ऊपर लगने दें, यह सम्भव नहीं मालूम पड़ता। हमारा अपना अनुमान यह है कि बहुत ज्यादा वर्फ पड़ने से पक्षी बहुत बडी तादाद मे मरे होंगे और जहाँ पेट की ज्वाला शान्त करने का ही सवाल मुख्य हो वहाँ मनुष्य विधि-निषेध का बहुत विचार नहीं करता, इसलिए इस संकट-काल में उनके मांस से काश्मीर-निवासियों ने अपनी क्षुधा-ज्वाला शान्त की हो तो उसमे आश्चर्य की कोई बात नहीं। अस्तु।

थोड़ी देर मे आकाश निर्मल हो गया और राजा के शोक के साथ-साथ अकाल भी शान्त हो गया। राजा ने रानी वाक्पुष्टा को अपनी प्रजा की रक्षक मानकर उसे बहुत-बहुत धन्यवाद दिया।

रानी वाक्पुष्टा पुण्य-मूर्ति थी। ब्राह्मणों के लिए उसने दो विशाल अग्रहार (अन्नसत्र) बनवाये थे, जहाँ ग़रीबों और ब्राह्मणों को मुक्त-हस्त होकर अन्न-दान किया जाता था। सैकडों वर्ष तक इन अग्रहारों मे राहगीर आश्रय लेते और रानी वाक्पुष्टा को आशीर्वाद देते थे।

राजा तुंजीन छत्तीस वर्ष तक राज्य करके अपनी भरी जवानी मे स्वर्गवासी हुआ, तब पति-विरह से पीडित होकर रानी वाक्पुष्टा ने भी अपने प्राण त्याग दिये। जिस जगह रानी सती हुई, वह स्थान आज भी वाक्पुष्टावटी के नाम से प्रसिद्ध।

३३

कुशल और साहसी पत्नी

देवस्मिता

देवस्मिता धर्मगुप्त नामक एक वैश्य की कन्या थी, जो देव-नगरी मे रहता था। उसने अपनी कन्या को वाल्यावस्था मे ही अपनी सामर्थ्य के अनुसार, लिखना-पढ़ना सिखा दिया था।

देवस्मिता रूपवती, गुणवती और धर्मात्मा स्त्री थी। रामायण और महाभारत की कथाओं के अतिरिक्त वौद्ध धर्म की कथायें भी वह भली भाँति जानती थी।

देवस्मिता के वयःप्राप्त होने पर धर्मगुप्त ने ताम्रलिप्ती नगर के मणिभद्र नामक एक सुन्दर और धार्मिक युवक के साथ उसका व्याह कर दिया।

पति-पत्नी में वहुत दृढ प्रेम-सम्बन्ध था। देवस्मिता पतिव्रता स्त्री थी। घर के सब लोग उससे प्रसन्न थे। धर्म की शिक्षा मिली हुई होने से वह साधु-सन्त और संन्यासियों की सेवा-सहायता करती थी। जो कोई भूखा-प्यासा जा पहुँचता उसकी खातिर-तवाजो करती। अडोस-पडोस की वहू-वेटियों से खास तौर पर प्रेम रखती। सवेरे वहुत जल्दी उठती और नहा-धोकर सबसे पहले अपनी सास तथा

नशे मे चूर था। उसने कहा—"तुम झूठे हो। स्त्रियाँ बहुत भली और सुशील होती हैं। मेरी स्त्री इतनी सती है कि लोग देवी की तरह उसकी पूजा करते हैं।" मित्रों को यह बात खल गई। उन दुष्टों ने बातों ही बातों मे मणिभद्र के घर का सब पता-ठिकाना मालूम कर लिया और पीछे से यह निश्चय किया कि ताम्रलिप्ति जाकर छल से मणिभद्र की स्त्री का सतीत्व नष्ट करें और फिर आकर मणिभद्र को शरमिन्दा किया जाय।

यह दुष्ट-निश्चय कर वे दुराचरी ताम्रलिप्ती आये और एक बुद्धमन्दिर की धर्मशाला मे ठहरे। ठहरकर धीरे-धीरे अपने अन्यायी काम का जाल रचने लगे। पर उन्हे खयाल हुआ कि किसी स्त्री की मदद के बगैर ऐसे काम मे सफलता नहीं मिल सकती। अत, उस मन्दिर मे एक बौद्ध संन्यासिनी रहती थी, उसे धन का प्रलोभन देकर अपनी ओर किया, और जब वह यह करने को तैयार होगई तो बड़े खुश होकर मन ही मन सोचने लगे—"यह उच्चकुल की वधू इस संन्यासिनी के फन्दे से नहीं बच सकेगी और तब, कुछ दिन बाद, हम मणिभद्र के आगे स्त्रियों की नीचता और बेवफाई सिद्ध कर सकेंगे।"

वृद्ध संन्यासिनी उन दुष्टों से खूब सीख-पढ़कर देवस्मिता के घर गई। सुशील पुण्यवती देवस्मिता ने उसे तपस्विनी समझकर भलीभाँति उसका स्वागत-सत्कार किया और नम्रता से उसके आने का कारण पूछा। ढोंगी वृद्ध संन्यासिनी अपना मतलब छिपाकर बाहर से धर्म की बातें करने लगी। उसकी धर्म-संबंधी बातें सुनकर देवस्मिता ने उसका और भी सत्कार किया और कभी-कभी आते

रहने की प्रार्थना की। बुढ़िया तो चाहती ही यह थी। उसने सोचा कि बस अब मेरी मनोकामना पूर्ण हो जायगी। और उस दिन से वह रोज़ देवस्मिता के घर जाने-आने लगी। धीरे-धीरे दोनों में खूब जान-पहचान हो गई।

जब उनमें परस्पर अधिक जान-पहचान हो गई तो बातों ही बातों मे वृद्ध संन्यासिनी ने देवस्मिता के यौवन और पतिवियोग सम्बन्धी चर्चा चलाकर उसके प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की। देवस्मिता ठहरी भोली युवती, वह बेचारी उस कुटनी के छल-प्रपञ्च को क्या समझती ? वह तो यही जानी थी कि यह संन्यासिनी एक सहेली की तरह बातें करती है, और इसलिए संन्यासिनी की बातों पर उसने बहुत ध्यान नहीं दिया। एक दिन जब देवस्मिता अकेली बैठी हुई थी, संन्यासिनी ने मौक़ा देखकर कटाह से आये हुए उन चार जवान व्यपारियों की चर्चा चलाई और देवस्मिता से कहा— "वे तुम्हारे विरह मे व्याकुल हो रहे हैं। तुम एक बार उनपर प्रेम की नज़र डालो, यही उनकी इच्छा है।"

वृद्ध तपस्विनी की यह बात सुनकर देवस्मिता एकाएक चौंक पड़ी। अब उसकी समझ मे आगया कि इस दुष्टा के आने और इतना हेलमेल बढ़ाने का असली प्रयोजन क्या है। लेकिन उसने समय सूचकता से काम लिया। ऊपर-ही-ऊपर हँसकर उसने कहा— "अच्छी बात है, कल मैं इसका ठीक-ठीक जवाब दूँगी।"

बुढ़िया मन-ही-मन फूलकर कुप्पा हो गई और खुशी-खुशी वहाँ से बिदा हुई। उसे विश्वास हो गया कि अब तो देवस्मिता फँस गई।

बड़े अभिमान के साथ व्यापारियों को भी उसने यह खुशखबरी सुनाई। फलतः वे भी आनन्द के सागर मे हिलोरें लेने लगे।

इधर वृद्धा के जाने पर देवस्मिता ने सारा हाल अपनी सास से कहा। सास ने जवाब दिया—"कल से उसे अपनी देहली पर पाँव न धरने दूँगी।" परन्तु देवस्मिता बड़ी चतुर थी। उसने सोचा—"इन सब दुष्टों को बिना दण्ड दिये न छोडना चाहिए।" और सास को समझा-बुझाकर उन व्यापारियों को रात के समय अपने घर बुलाने की स्वीकृति ले ली।

दूसरे दिन जब वह बुढ़िया आई, तो देवस्मिता ने हँसते हुए कहा—"अच्छा, आज उन्हे इस जगह ले आना, मैं उनसे पूछूँगी कि वे मुझसे किसलिए मिलना चाहते हैं।"

रात को जब सब सो गये तो एक-एककर उन चारों को वृद्ध संन्यासिनी घर में लाई। अपने दो विश्वास्त नौकरों को देवस्मिता ने पहले से ही वहाँ छिपा रक्खा था। उनके हाथ में गरम किये हुए लोहे के कुत्ते के पजे थे। व्यापारियों के घर में पैठने के साथ ही नौकरों ने उन दुष्टों के सिर में कुत्ते के पंजों के डाम लगा दिये और अँधेरी रात मे मकान के ऊपर से नीचे सड़क पर उन्हें धकेल दिया। फलतः उनकी बडी दुर्दशा हुई और सूरज निकलने से पहले-पहले, बिना किसीसे कुछ कहे-सुने, चुपचाप वे लम्बे बने। यहाँ तक कि संन्यासिनी रूपी उस कुटनी को भी वे अपना हाल न कह सके।

दूसरे दिन उस संन्यासिनी को बुलाकर देवस्मिना ने खूब धमकाया और कहा—"क्यों, क्या लोगों को इस तरह धोखा देने के लिए ही

तूने संन्यासिनी का वेश धारण किया है ? धिक्कार है तुझे ! वेश तो साधु का सा रखती है और धन्धा कुटनी का करती है। तेरे उन चारों वदमाशों को तो मैंने मजा चखा दिया है, अव तेरी वारी है। बोल तेरी क्या गति करूँ, जिससे तेरे सरीखी ढोंगी स्त्रियाँ सदा के लिए चेत जायँ ?"

देवस्मिता का चण्डी-रूप देखकर बुढिया भयभीत हो गई और उस के पैरों पर गिर पडी। यह देख देवस्मिता की सास को उसपर दया आगई और वह बीचबचाव करने लगी, पर देवस्मिता ने कहा—"नहीं माताजी। इसे तो दण्ड देना ही चाहिए। क्योंकि दुष्टों को उचित दण्ड न देने से पाप वढता है और अन्त में धर्म-कार्य क लोप हो जाता है।"

आखिर सास के कहने-सुनने से देवस्मिता ने उस वौद्धमन्दिर के पुजारी को बुलाया और उसे विस्तार से संन्यासिनी की पोल-कथा सुनाकर सलाह दी कि अब इस बुढिया को मदिर से निकाल दो और आगे से मन्दिर के अन्य साधु-संन्यासिनियों पर भी भरपूर देख-भाल रक्खी जाय, जिससे वे संसारी मनुष्यों के आचार न बिगाड़ सकें। तदनुसार पुजारी ने बुढिया को मन्दिर से निकाल दिया।

यह घटना तो इस प्रकार समाप्त हो गई, परन्तु इसके दो-चार दिन बाद देवस्मिता को खयाल हुआ कि ये बदमाश एका करके कहीं परदेश में मेरे पति पर अपनी खिझलाहट न निकालें। अतः अपनी सास से उसने कहा—"माताजी। वहुत दिनों से आपके पुत्र के कुशल-समाचार नहीं मिले। ये चारों व्यापारी उनके मित्र थे। इन्हें हमने इनकी करनी

का फल चखाया है, इससे मुझे शंका है कि कहीं ये लोग मेरा
उनसे न लें। अतः आप आज्ञा दें तो मैं स्वयं परदेश जाकर
रक्षा करूं और उनकी राजी-खुशी मालूम कर आऊं।"

सास ने पहले तो कुछ आनाकानी की, पर फिर सोचा-
बड़ी धर्मात्मा है, इसे कोई भी विघ्न पड़ने की संभावना नहीं
और तब देवस्मिता को पति की शोध में जाने की अनुमति दे

देवस्मिता ने सास के पैर छूकर आशीर्वाद लिया तथा
दासियों को साथ लेकर मरदाने वेश में जहाज पर बैठकर
बन्दर पहुँची। वहाँ अपने पति की दूकान के पास ही एक
किराये पर लेकर ठाठ-बाट से रहने लगी। मणिभद्र ने इसे
उसे इसका चेहरा तो अपनी स्त्री के जैसा मालूम पड़ा, परन्तु
वेश देखकर इससे जाकर मिलने या बातचीत करने की उसे
न हुई। उसने सोचा कि यह कोई मेरे देश के किसी
पुत्र होगा।

कुसंगति के कारण मणिभद्र और ही रंग मे रंग गया था
जो चार मित्र ताम्रलिप्ती से वापस आये थे, उन्होंने देवस्मि
वैर भंजाने के लिए उसके खिलाफ तरह-तरह की मिथ्या वा
और इस प्रकार मणिभद्र के मन मे अपनी स्त्री के लिए बुरी
पैदा करदी। देवस्मिता ने वहाँ रहकर वहाँकी जानने यो
बातें जान लीं। इसके बाद एक दिन राजदरबार मे जाकर
"मेरे चार गुलाम आपके राज्य मे भाग आये हैं, उनका प
कर कृपया उन्हें मेरे सुपुर्द कर दिया जाय।"

वहाँ का राजा सूरसेन बडा धर्मात्मा और नीतिज्ञ था। परदेशी व्यापारी की यह फरयाद सुनकर उसने कहा—"तुम्हारे गुलाम का पता बताओ, तो उन्हें पकड़वाकर तुम्हारे सुपुर्द कर देंगे।"

इसपर देवस्मिता ने उन चारों के नाम बताये। परन्तु वे सब-के-सब उस राज्य के प्रसिद्ध और धनी सेठ-साहूकारों के लडके थे, इसलिए पहले तो किसीको- उसकी बात पर विश्वास ही नहीं हुआ, फिर भी उनको बुलवाया तो गया ही। उनके आजाने पर राजाने पुरुप-वेशधारी देवस्मिता से कहा—"देखो, तुम धोखा खा रहे हो। जिनको तुम अपने गुलाम बता रहे हो, वे तो मेरे राज्य के धनी-मानी साहूकारों के पुत्र हैं। इनका अपमान करने के अपराध मे कहीं तुम खुद ही न फँस जाना।" पर देवस्मिता इसपर जरा भी विचलित नहीं हुई और बोली—"मेरे दासों के सिर मे कुत्ते के पंजे के चिन्ह रहते हैं। इन लोगों ने पगडी के नीचे उन चिन्हों को छिपा रक्खा है। आप इनकी पगडी उतरवाकर देखें और बतायें कि ये मेरे दास हैं या नहीं?"

राजाज्ञा से चारों की पगडियाँ उतारी गई तो उनके मस्तक पर सचमुच कुत्ते के पंजे के चिन्ह दिखाई पड़े। उन्हे देखकर सबको बडा आश्चर्य हुआ। राजा ने बार-बार उन युवकों से उन चिन्हों का स्पष्टीकरण करने के लिए कहा, परन्तु शर्म के मारे चारों चुप ही रहे। अपनी सफाई में वे एक शब्द भी नहीं कह सके।

अब देवस्मिता से न रहा गया। उसने इन पापियों के अन्याय तथा उसके लिए उनपर पड़ी हुई मार की सारी बात शुरू से अखीर

नक कह सुनाई। सब कुछ सुनकर राजा क्रोध से उबल पडा और इस अपराध के लिए उसने उन चारों को कैद की सजा दी; परन्तु उनके माँ-बाप देवस्मिता के पैरों पडकर क्षमा माँगने लगे, तो देवस्मिता ने राजा से प्रार्थना करके उनकी सजा माफ करा दी।

राजा देवस्मिता से बड़ा खुश हुआ और उसके पातिव्रत्य की भूरी-भूरी प्रशंसा की, यही नहीं बल्कि बहुत-से धन-वस्त्रालंकार का उपहार देकर उसे ताम्रलिप्ती के लिए विदा किया।

मणिभद्र भी अपनी स्त्री के पातिव्रत एवं कुशलता की बात सुनकर बडा प्रसन्न हुआ। उसकी सारी शंकायें निर्मूल हो गई और वह भी उसके साथ अपने घर गया।

मणिभद्र की माँ को जब देवस्मिता की इस सब बात का पता लगा तो उसका हृदय भी गद्गद् हो गया। उसने अपनी पुत्रवधू को छाती से लगाकर अपने हृदय के आवेग को शान्त किया, और प्रसन्नता के साथ कहा—"बहू। तू सच-मुच देवी है। भगवान तेरे सौभाग्य को सदा अचल रक्खे। तुझ सरीखी देवियों से ही स्त्री-जाति की प्रतिष्ठा बढ़ती है।

नगरवासियों ने जब यह समाचार सुना तो उनके आनन्द का भी पार न रहा। इस घटना से देवस्मिता के प्रति उनकी श्रद्धा बहुत बढ़ गई।

जिस देश और जाति में ऐसी धर्मात्मा, कुशल और साहसी स्त्रियाँ उत्पन्न होती हैं वह देश और जाति सचमुच धन्य है।

३४

महान् विदुषी

भारती

स्वामी शंकराचार्य जिस समय हिन्दू-धर्म को बौद्ध-धर्म के असर से मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे और अपने वेदान्त मत का प्रतिपादन करते हुए इधर-उधर भ्रमण कर रहे थे, उस समय अपने धर्म-प्रचार के कार्य में उन्हे एक स्त्री से बहुत मदद मिली थी। यह स्त्री और कोई नहीं, उस समय के एक बड़े भारी बौद्ध विद्वान पंडित मण्डन मिश्र की पत्नी भारती देवी थीं, जो अपने समय की एक महान विदुषी स्त्री होगई है।

भारती के पाण्डित्य का प्रदर्शक एक उदाहरण सर्व-विदित है। एकबार मण्डन मिश्र के साथ शंकराचार्य का शास्त्रों-सम्बन्धी वाद-विवाद (शास्त्रार्थ) हुआ। शास्त्रार्थ से पहले शंकराचार्य ने यह प्रतिज्ञा करली थी कि शास्त्रार्थ मे मेरी हार हुई तो मैं संन्यास-परित्याग करके मण्डन मिश्र का शिष्य बन जाऊंगा। इसी प्रकार मण्डन मिश्र ने भी प्रतिज्ञा की थी।

शंकराचार्य और मण्डन मिश्र दोनों ही धुरन्धर विद्वान थे, इसलिए उनका शास्त्रार्थ कोई मामूली बात तो थी नहीं, ऐसी हालत मे

शास्त्रार्थ मे मध्यस्थ कौन वने, यह वडा टेढ़ा सवाल था। लेकिन इसके लिए ज्यादा दौड़धूप नहीं करनी पडी। सोच-विचार के वाद, मण्डन मिश्र की विदुपी पत्नी भारतीदेवी को यह सम्मान दिया गया।

शास्त्रार्थ शुरू हुआ। दोनों अपनी-अपनी दलीलें पेश करने लगे और भारती ध्यानपूर्वक उन्हें सुनने लगी। दोनों विद्वान इस वात से निश्चिन्त थे कि निर्णय योग्य हाथों मे है और भारती भी अपनी जिम्मेदारी वखूवी जानती थी। लेकिन शास्त्रार्थ के अन्त मे उसका निर्णय यही रहा कि मण्डन मिश्र अपने पक्ष-समर्थन मे असफल रहे, इसलिए विजयमाला उसने निःसंकोच शंकराचार्य के गले में डालदी।

इस प्रकार मण्डन मिश्र तो पराजित होगये, लेकिन भारती ने शङ्कराचार्य से कहा—"अभी आप पूरी तरह जीते हुए नहीं कहे जा सकते। अव आप मेरे साथ तर्क कीजिए। मुझे भी आप अपने तर्क से परास्त करदें तभी आप पूरी तरह विजयी कहे जा सकेंगे।"

भारती के ऐसे स्पर्धायुक्त वचन सुनकर शंकराचार्य कुछ विस्मित हुए, लेकिन उसकी वात को टाल न सके। आखिर शंकराचार्य और भारती के वीच शास्त्रार्थ शुरू हुआ। भारती प्रश्न करने लगी और शंकराचार्य जवाव देने लगे। पश्चात् शंकराचार्य ने प्रश्न शुरू किये और भारती उत्तर देने लगी। इस प्रकार रात-दिन शास्त्रार्थ होते हुए महीनों वीत गये, लेकिन न तो शंकराचार्य थके और न भारती ही थकी। भारती का पाण्डित्य, धैर्य एवं अध्यवसाय देखकर शंकराचार्य स्तम्भित होगये, और मन-ही-मन सोचने लगे, कि 'मैंने शास्त्रार्थ तो

बहुतेरे पण्डितों के साथ किया है, लेकिन ऐसा भारी शास्त्रार्थ तो आजतक किसी के साथ नहीं हुआ। भारती एक भी प्रश्न बाकी नहीं छोडती थी। एक दलील पूरी हुई नहीं कि तुरन्त दूसरी तैयार रहती। मगर शंकराचार्य भी कुछ कम विद्वान् नहीं थे, इसलिए उन्हें हरा नहीं सकी। आखिर भारती ने कामशास्त्र-संबंधी प्रश्न आरम्भ किये। तब शंकराचार्य ने कहा, "मैं संसार-त्यागी हूँ। कामशास्त्र का मुझे जरा भी ज्ञान नहीं है।"

कथा तो इसके बाद यह भी है कि शंकराचार्य ने इसके लिए भारती से छः महीने की मुहलत मागी थी। इस समय मे हठयोग से अपने शरीर को छोड़कर उन्होंने एक राजा के मृत देह में, जो इसी समय मरा था, प्रवेश किया। राजा की देह में स्थित शंकराचार्य ने उसकी रानी से कामशास्त्र संबंधी ज्ञान प्राप्त किया और छः महीने के अन्दर भारती के प्रश्नों का उत्तर दिया।

शास्त्रार्थ के बाद मण्डन मिश्र, अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, शंकराचार्य के शिष्य होगये। पतिव्रता भारतीदेवी ने भी अपने पति का ही अनुसरण किया। इस प्रकार पूर्वोक्त शास्त्रार्थ मे विजयी होकर शंकराचार्य ने मण्डन मिश्र को ही प्राप्त नहीं किया बल्कि भारतीदेवी जैसी विद्वान् और विदुषी स्त्री को भी अपने पक्ष मे कर लिया। शंकराचार्य के काम मे भारती जैसी स्त्रियों का सहयोग कितना उपयोगी हो सकता था, यह बतलाने की जरूरत नहीं। भारती ने सच्चे जी से अपना कर्तव्य पालन किया और अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक वह शंकराचार्य के कामकाज में ही लगी रही। शंकराचार्य

भी उसकी क़द्र जानते थे। यहाँ तक कि शृंगेरी में उन्होंने उसके लिए एक मन्दिर भी बनवा दिया था, जहाँ उसने अपनी आयु के शेष दिन व्यतीत किये थे।

समाप्त

३४—आश्रम-हरिणी ।)
३५—हिन्दी-मराठी-कोष २)
३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त ॥)
३७—महान् मातृत्व की ओर ॥≡)
३८—शिवाजी की योग्यता (छप रही है) ॥)
३९—तरंगित हृदय (छप रही है) ॥)
४०—नरमेध १॥)
४१—दुखी दुनिया ॥)
४२—जिन्दा लाश ॥)
४३—आत्म-कथा (गांधीजी) दो खण्ड सजिल्द १॥)
४४—जब अंग्रेज़ आये (जब्त : अप्राप्य) १≡)
४५—जीवन-विकास अजिल्द १।) सजिल्द १॥)
४६—किसानों का बिगुल (जब्त) ≡)
४७—फांसी ? ॥)
४८—अनासक्तियोग तथा गीता-बोध (श्लोक-सहित) ।≡)
अनासक्तियोग ≡)
गीताबोध— –)॥
४९—स्वर्ण-विहान (जब्त) ।≡)
५०—मराठों का उत्थान पतन
५१—भाई के पत्र
सजिल्द
५२—स्वगत—
५३—युग-धर्म (जब्त. अप्राप्य
५४—स्त्री-समस्या
५५—विदेशी कपडे का मुकाबला
५६—चित्रपट
५७—राष्ट्रवाणी (अप्राप्य)
५८—इंग्लैण्ड में महात्माजी
५९—रोटी का सवाल
६०—दैवी सम्पद्
६१—जीवन-सूत्र
६२—हमारा कलंक
६३—बुद्बुद
६४—संघर्ष या सहयोग ?
६५—गांधी-विचार-दोहन
६६—एशिया की क्रांति (जब्त)
६७—हमारे राष्ट्रनिर्माता
सजिल्द
६८—स्वतंत्रता की ओर—

पता—सस्ता-साहित्य-मण्डल, नया बाज़ार, दिल्ली ।